भूमिका

हिन्दी में जीवन की भित्ति पर काव्य के विश्लेषक समीक्षा-ग्रन्थों का अपेक्षाकृत अभाव देखकर मुझे 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' पुस्तक लिखने की भावना हुई। धीरे-धीरे मेरी भावना ने विचार का रूप धारण किया। भारतीय विश्वविद्यालयों के उच्च वर्गों में भी हिन्दी भाषा तथा साहित्य को अधिकाधिक स्थान प्राप्त होने तथा वैज्ञानिक पद्धति से उसके शिक्षण की प्रवृत्ति ने स्वभावतः मेरे विचार को दृढ़संकल्प बना दिया और आज मैं इस पुस्तक को लेकर अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो सका।

इस पुस्तक में काव्य या साहित्य के मूल सिद्धान्तों का सम्बन्ध मानव-जीवन के उन शाश्वत तत्त्वों के साथ बताया गया है, जिनका परिचय हमें थोड़ा-बहुत रहता है, किन्तु उनकी विशेषता का विश्लेषण साधारणतः हम नहीं कर पाते। जीवन-प्रकृति के इन तत्त्वों के विश्लेषण तथा काव्य या साहित्य के मौलिक सिद्धान्तों के साथ उनका विनियोग, यथासम्भव, साहित्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, वैद्यक-शास्त्र, वेदान्त-दर्शन आदि के अनुसार किया गया है। वेद, उपनिषद्, वेदान्त आदि आर्ष ग्रन्थ तथा संस्कृत, हिन्दी और अङ्गरेजी के अन्यान्य ग्रन्थों से, जीवन और काव्य की समीक्षा करने में, मुझे अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक में कुल दस अध्याय रखे गए हैं। अन्तिम अध्याय—अन्तर्दर्शन—में मैंने हिन्दी के नौ आधुनिक कवियों की, बहुत ही संक्षेप में, प्रवृत्ति-मूलक समीक्षाएँ की हैं। कवियों के निर्वाचन तथा क्रम में किसी निश्चित मानदण्ड का उपयोग नहीं किया गया। प्रायः प्रवृत्ति-

विशेष तथा अवस्था-क्रम के अनुसार ही रखे गए हैं। समीक्षित कवियों में से अनेक के साथ मेरा व्यक्तिगत परिचय है और उनके जीवन को निकट से देखने के अनेक अवसर भी मुझे प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनके परिचय तथा सद्भावना ने मुझे उनके साथ पक्षपात करने की कभी प्रेरणा न दी। जीवन की सारी दुर्बलताओं के साथ रहकर भी मैंने, यथासम्भव, अपनी प्रकृति के विवेक को निष्कम्प तथा निर्दिष्ट रखने की चेष्टा की है। जिन कवियों ने अपने काव्य-कौशल से मेरी सहानुभूति को अर्जित किया है, उन्हें वह पूर्वाग्रह-रहित होकर प्राप्त हुई है।

इस पुस्तक की रचना तथा प्रकाशन में आशातीत विलम्ब हुआ। इसका उत्तरदायित्व विशेषतः मेरे जीवन की साहित्यिक गतिविधि के राजनीतिक दिशा-भेद पर है। अपनी साहित्य-साधना तथा प्रवृत्तियों की रक्षा के लिए मुझे अनुकूल वातावरण नहीं मिल रहा था और परिणामतः दो-चार महीने के काम के लिए मुझे दो-चार वर्षों की लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी। छपाई का क्रम अपने ढङ्ग से चल रहा था, परन्तु उस क्रम के अनुसार मैं लेखन-कार्य के लिए समय नहीं बचा पाता था। ज्यों-ज्यों अध्याय पूरे होते गए, त्यों-त्यों वे प्रेस भेजे जाते रहे। अपनी विश्रब्ध प्रवृत्ति के कारण, कुछ सार-पत्रक बना लेने के बाद, सारी पुस्तक की रचना श्रुति-लेखन-पद्धति पर ही हुई और इस कार्य में मेरे प्रिय गोविन्द प्रसाद झा, साहित्यालङ्कार ने सर्वाधिक परिश्रम किया। मेरी सुविधा तथा जीवन-क्रम के अनुसार, समय-समय पर, इस कार्य-भार को सर्व-सुहृद् अनूप, साहित्यरत्न ; बुद्धिनाथ झा 'कैरव', एम० एल० ए० ; तथा रूपलाल, साहित्यरत्न ने बहुत उत्साह के साथ सम्भाला। इतना होने पर भी, यदि मेरे प्रिय बन्धु सत्येन्द्रनारायण, बी० ए० ने अपने स्नेह तथा साहित्य-प्रेम का परिचय देकर, इस पुस्तक के प्रकाशन में सुविधाएँ न दी

होतीं तो, शायद, मैं अबतक इसकी रचना भी न कर पाता। अन्यथा कार्य-संलग्न रहने तथा असुविधा के कारण मैं स्वयं इसका प्रूफ नहीं देख सका और इस भार को बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रिय तपेशचन्द्र त्रिवेदी ने ढोया। मैं अपने इन बन्धुओं का अनुग्रह मानता हूँ।

बस, इतना ही।

पूर्णियाँ,
१ जून, '४२

—सुधांशु

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त'—पुस्तक का यह दूसरा संस्करण अब 'जनवाणी'-कार्यालय से प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी के पाठकों की रुचि धीरे-धीरे अब समीक्षा-साहित्य की ओर भी आकर्षित हो रही है, यह बहुत प्रसन्नता की बात है। इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में जहाँ-तहाँ कुछ आवश्यक संशोधन कर दिए गए हैं, किन्तु कहीं कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया गया है। दसवें अध्याय—अन्तर्दर्शन—के नौ कवियों में से एक—जयशंकर 'प्रसाद'—का देहावसान दुर्भाग्यवश इस अवधि में ही हो गया है। प्रसाद हिन्दी साहित्य के वर्त्तमान काल के एक प्रमुख ज्योति-स्तम्भ रहे हैं। दिवंगत हो जाने के बाद भी उनकी कृतियों के अध्ययन का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहेगा। वर्त्तमान हिन्दी कवि तथा उनकी रचनाओं के स्वाध्याय की दृष्टि से प्रसाद का अन्तर्दर्शन कम-से-कम इस पुस्तक के लिए, अभिन्न अङ्ग ही माना जायगा।

पूर्णियाँ,
१६ मई, १९५०

—सुधांशु

एक दृष्टि

हिन्दी के वर्त्तमान आलोचकों की श्रेणी में 'सुधांशुजी' का स्थान बहुत ही ऊँचा है तथा निर्विवाद रूप से वे स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के सबसे प्रबल वाहक हैं। उनकी पहली पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' विद्वानों के बीच काफी आदर पा चुकी है, तथा उनके अन्य लेखों और अभिभाषणों से हिन्दी की आलोचना-पद्धति को यथेष्ट शक्ति प्राप्त हुई है।

वर्त्तमान पुस्तक, काव्य के सम्बन्ध में उनके वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम है। सहसा यह कहना कठिन है कि इस ग्रन्थरत्न का आधार शुद्ध साहित्य-समीक्षा की भावना है अथवा दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचार की। "हम बहुत दिनों से सुनते आये हैं कि काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है" किन्तु इस उक्ति की अर्थपूर्णता कैसे चरितार्थ हो सकती है, यह बात हमें थोड़े ही लोगों ने बतलाने का कष्ट किया है। सुधांशुजी का स्थान इन थोड़े-से लोगों के बीच भी विशिष्ट समझा जाना चाहिए; क्योंकि उन्होंने एक गम्भीर विचारक की हैसियत से इस प्रश्न की तह में जाने की अद्भुत् चेष्टा की है। उन्होंने अपने विशाल अध्य-यन एवं प्रौढ़ चिन्तन के बल पर ऐसी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझाई हैं, जो प्रायः हिन्दी में अब तक अविश्लिष्ट थीं।

आरम्भ के तीन अध्याय शुद्ध दर्शन और मनोविज्ञान के अध्याय हैं, जिनको लेखक ने पूरी तन्मयता के साथ मानव-मन की कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का रहस्य खोला है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही यह दिखलाने की चेष्टा की है कि काव्य के साथ उनका क्या सम्बन्ध है।

चौथा अध्याय रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में है तथा इसमें लेखक ने
यह सिद्ध किया है कि अवकाश के समय कवि जिस ओज का संचय करता
है, उसीसे काव्य की कृतियां जन्म पाती हैं तथा अवकाश के समय पाठक
जिस ओज को इकट्ठा करता है, उसीसे उसे काव्य-रस के उपभोग की
क्षमता प्राप्त होती है। "निश्चेष्ट तथा कार्यविमुख रहनेवाले अमीर-
उमराव कुछ अधिक विलासी इसीलिए होते हैं कि उन्हें साधारण जनता
से अपने ओज-संचय की ज्यादा सुविधा रहती है।" किन्तु, काव्य को
लेखक मनोरञ्जन का साधन नहीं मानते, वरन् "उसका अन्तिम उद्देश्य
जगत् के साथ मानव-हृदय का सामञ्जस्य स्थापित करना" मानते हैं।
पांचवां अध्याय काव्य के अर्थ-बोध के सम्बन्ध में है। प्रसाद क
महत्ता यह कहकर स्वीकार की गई है कि "किसी रचना का प्रिय लग
ही जीवन के साथ उसके हार्दिक सम्बन्ध का द्योतक है।" किन्तु ; इ
प्रिय लगनेवाली रचनाओं में लेखक ने उन कविताओं को भी सम्मि
कर लिया है, जो अच्छी लगने पर भी स्पष्ट नहीं होतीं। लेख
मतानुसार "काव्य में ऐसे अर्थज्ञान-हीन रसानुभव को शास्त्रीय द
अप्रबुद्ध उपभोग कहते हैं।" प्रसाद कविता का सबसे बड़ा गुण
यह केवल अर्थ की स्पष्टता ही नहीं, प्रत्युत काव्य के उन सभी आवे
मिश्रित परिणाम होता है, जिससे कविता, कवि के हृदय से निक
पाठकों के हृदय में अपना घर बनाती है। अधिकाधिक लोगों के
को छू सकना केवल स्पष्टता का ही काम नहीं होता ; वरन्, उ
संक्रमण-शीलता अथवा Communicativeness कह सकते हैं।
इस शक्ति की प्राप्ति सदैव सुलभ नहीं होती। ऐसे बहुत से कवि
दुर्लभ सामग्रियों के विशाल भाण्डार के स्वामी होते हुए भी
बीच आदरयुक्त प्रसार पाने से वंचित रह गये। कविता के अर्थ-

राह में जो कठिनाइयाँ हैं (कुछ कवि की और कुछ पाठक की भी), लेखक ने उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी ही योग्यता के साथ किया है तथा अन्त में यह निर्णय दिया है कि "संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुत कवि हो गये हैं, जो 'सहृदय-हृदयवेद्यम्' (सहृदय-हृदय ही समझ सकता है) कहकर अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। ठीक इसके विपरीत कहनेवाले भी हैं, जो 'वक्तुरेव हि दोषः स्याद् यत्र श्रोता न बुध्यते' कहकर श्रोता के कुछ न समझने पर वक्ता को ही दोषी समझते हैं। दोनों पक्षों में चाहे जितनी यथार्थता रहे ; किन्तु इतना तो निश्चित है कि यदि कला अपनी स्थिति में स्पष्ट नहीं रहे, तो वह अपना अर्थ-बोध नहीं दे सकती।"

छठा अध्याय 'काव्य की प्रेरणा-शक्ति' का अध्याय है। इस अध्याय में उन आवेगों का मनोवैज्ञानिक वर्णन है, जिनकी प्रेरणाएँ कविता को जन्म देती हैं। लेखक ने कविता रची जाने का मूल-कारण स्रष्टा के भीतर आत्मविस्तार की भावना का होना माना है। कुछ अधिक गहराई में जाने पर उन्होंने इस भावना का उत्स काम को माना है तथा काम-वासना और आनन्द-भावना मनुष्य के चिंतन एवं कर्म पर किस प्रकार से प्रभाव डालती हैं, इसका वर्णन बहुत सजीव ढंग से किया गया है। यह कोरा फ्रायड का प्रयास है तथा इस सम्बन्ध का साहित्य अंग्रेजी में ढेर-का-ढेर लिखा जा चुका है। किन्तु ; इस सिद्धान्त की भारतीय व्याख्या शायद अबतक बाकी थी। लेखक ने वर्त्तमान पुस्तक में उसे पूर्ण कर दिया है। मनु से लेकर डाक्टर भगवान दास और सर राधाकृष्णन् ने इस सम्बन्ध में क्या सोचा है, इसका बहुत कुछ प्रमाण प्रसंगानुकूल आनेवाले उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। फ्रायड के सिद्धान्त की स्थापना में भारतीय मतों का उद्धरण लेखक की अपनी देन है और इसका श्रेय उन्हें मिलना ही चाहिए।

सातवां अध्याय 'लय और छन्द' के सम्बन्ध में है। लेखक लय और छन्द को दो भिन्न गुण मानकर चलते नजर आते हैं, जो समुचित और योग्य है। उन्होंने इस बात की खोज की है कि लय आदि अवस्था में किस प्रकार प्रकट हुई तथा साहित्य में वह कैसे आई। लय की महिमा बताते हुए उन्होंने पञ्चतन्मात्राओं के बीच आकाश को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है जिसका गुण ध्वनि है, तथा यह निष्कर्ष निकाला है कि "लय-पूर्वक सुमधुर ध्वनि से सभी तत्वों पर अधिकार किया जा सकता है।" काव्य की भाषा के लिए लय का रहना बहुत आवश्यक है। लेखक का मत है कि "छन्द से लय की स्वाभाविकता को हम हटा नहीं सकते ; क्योंकि छन्द में प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाला यही तत्त्व है" तथा "छन्द के मूल तत्त्व (लय) के बहिष्कार से स्वयं प्रकृति (मानव-प्रकृति) ही विद्रोह कर उठेगी। छन्द की शृंखला को वे काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं ; क्योंकि "मनुष्य की कोई भी रचना शृंखला से खाली नहीं होगी।" लेखक की प्रवृत्ति 'सद्यः प्रीतिकरो रागः' के सिद्धान्त की ओर है, जिससे कोई रसज्ञ व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता। किन्तु ; एकाध बातें ऐसी हैं, जिनकी ओर संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। वर्तमान अध्याय में (तथा तीसरे अध्याय में भी) लेखक ने अपना मत व्यक्त किया है कि "यह कहना बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि पुराने छन्दों में नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नहीं किया जा सकता" (पृष्ठ ४६) तथा "छन्दों की संख्या बढ़ाई जा सकती है ; किन्तु इस धारणा से नहीं कि पुराने छन्द आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गये हैं" (पृष्ठ १३२)। उनका विचार है कि "यदि काव्य-रचना के लिए नये छन्द-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो उससे पहले इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए कि क्या पुराने छन्द-विधान में

आबद्ध कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, देव और विहारी को हम भूल सकते हैं ? क्या हम अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तर रामचरित, रामायण, सूर-सागर, प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा और कामायनी में वर्णित जीवन-वृत्त की उपेक्षा कर सकते हैं ?" लेखक ने जिस आग्रह और वल के साथ यह प्रश्न किया है, उसका उत्तर 'नहीं' के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। किन्तु, केवल "नहीं" कह देने से ही वे कठिनाइयाँ दूर नहीं हो जातीं, जो नये भावों के वहन करने की राह में पुराने छन्दों की राह में पुराने छन्दों के सामने पड़ी हुई हैं। दर-असल, प्रश्न शाकुन्तल, रामायण और सूर-सागर में प्रयुक्त छन्दों के आदर और अनादर का नहीं है। प्रश्न यह है कि नये कवि की मनोदशा पुराने कवियों के समान है या नहीं। आदमी का वस्त्रादि से अथवा भाषा का वर्णमाला से जो सम्बन्ध है, काव्य का छन्द के साथ केवल उतना ही सरोकार नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान का आदमी यूरोप का लिवास भी पहन सकता है तथा हिन्दी को रोमन लिपि में भी लिख सकता है ; लेकिन शाकुन्तल के श्लोक अंग्रेजी या फ्रेञ्च में अनूदित होकर कालिदास के श्लोक नहीं रह सकते। कहते हैं, रवि बाबू इस बात से बहुत घबराते थे कि कोई अन्य भाषाभाषी उनकी कविताओं का अपनी भाषा में पद्यबद्ध अनुवाद करे। सच पूछिए तो सौन्दर्य-क्षय के विना अन्य भाषा में अनूदित नहीं हो सकना भी ऊँची कविता का एक विशेष गुण है। और जैसी बाधा एक भाषा की कविता को दूसरी भाषा में अनूदित करने में है, बहुत-कुछ वैसी ही बाधा एक युग के भाव को दूसरे युग के छन्द में बांधने में होती है। जैसे एक कवि का व्यक्तित्व दूसरे कवि के व्यक्तित्व से भिन्न होता है, उसी प्रकार एक युग की मनोदशा दूसरे युग की मनोदशा से अलग होती है। और इसी प्रकार जैसे कितने ही छन्दों का सामान रूप से व्यवहार करनेवाले एक ही युग

वे कई कवि कुछ खास छन्दों पर विशेष प्रीति रखते हैं, ठीक उसी प्रकार, कई भिन्न युग भी कितने ही खास छन्दों का समान रूप से उपयोग करते हुए, अपनी मनोदशा के विशेष अनुकूल कुछ खास छन्दों को प्रमुखता देते हैं। युगगत भिन्नता कवियों की मनोदशागत भिन्नता से कहीं अधिक प्रकट होती है—इतनी प्रकट कि बीसवीं सदी की मीरा मध्यकालीन मीरा के समीप नहीं होकर अपने ही युग की 'सुभद्रा' के अधिक समीप होती है और अपरंच तो यह है कि स्वयं 'सुभद्रा' भी भूषण और चन्दबरदाई के समीप नहीं होकर कुछ-कुछ सम-कालीन मीरा के ही पास है। युगविशेष की मनोदशा अपने अनुकूल छन्दों की खोज करती है। यही कारण है कि कालक्रम में कई प्रसिद्ध छन्द पीछे छूट जाते हैं, कइयों में काट-छांट हो जाती है और कई तो अनेक छन्दों के मिश्रण से नवीन बन जाते हैं। छन्द केवल वस्त्र या वर्णमाला नहीं होते। ये तो भावों की त्वचा हैं। कविताएँ लिखी जा चुकने के बाद अपने अनुरूप छन्दों की खोज नहीं करतीं, प्रत्युत छन्दों के साथ तो उनका जन्म ही होता है। सच्ची कविता की एक पंक्ति जब छन्दविशेष का चरण बनकर प्रकट होती है, तब यह नहीं समझना चाहिए कि उसका तेज किसी दूसरे छन्द के चरण में भी अक्षुण्ण रह सकता था। जहां इस सम्भावना की गुञ्जाइश हो, वहां यह समझना अधिक सत्य होगा कि कविता को अपनी सच्ची राह अभी नहीं मिली है। यह समझना निरी भ्रान्ति है कि "प्राचीन और नवीन का भेद, काव्य की सौन्दर्यवृद्धि की आवश्यकता से अधिक, कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से ही सम्बन्ध रखता है।" लेखक ने स्वयं लिखा है कि "प्रत्येक जाति, अन्यान्य धारणाओं के साथ, लय की भी एक धारणा रखती है और यह धारणा जातिगत, देशगत संस्कार से उत्पन्न होती है।" इस वाक्य में अगर

'देशगत' के बाद 'कालगत' और 'उत्पन्न' के बाद 'परिवर्तित' भी जोड़ दिया जाता, तो पाठकों को होनेवाले एक बड़े भ्रम की जड़ ही कट जाती।

आठवें और नवें अध्याय में लेखक ने क्रमशः 'ग्राम-गीत के मर्म' और 'कलागीत की प्रवृत्तियों' पर विचार किया है। कलागीत को उन्होंने ग्रामगीत का विकास कहा है और इस बात पर स्वाभाविक दुःख प्रकट किया है कि कलागीतों में ग्रामगीतों की सहृदयता और सफाई नहीं आ सकी। यह सभ्यता के विकास का शाप है और हम जीवन के प्राथमिक स्तर की सरलता ऊँचा जाने पर नहीं पा सकते। कलागीतवाले अध्याय में हिन्दी के कलागीतों की उत्पत्ति और विकास, नायिका-भेद, राष्ट्रीयता की उद्भावना, छायावाद, हृदयवाद और रहस्यवाद, प्रगतिवाद और सामयिक साहित्य आदि विषयों पर अच्छा विचार किया गया है। लेखक ने नायिकाओं की श्रेणी में 'देशसेविका-नायिका' की गणना को 'राष्ट्रीय लज्जा का विषय' कहा है, जो बहुत ही उपयुक्त है। नवीन हिन्दी-कविता का ऐसा, शायद ही, कोई निष्पक्ष आलोचक हो, जिसे छायावाद और रहस्यवाद के कुहासे में निष्फल पर्यटन करके खाली ही लौट नहीं आना पड़े। ऐसे लोग भी हैं, जो इस पर्यटन के बाद यह दिखलाना चाहते हैं कि उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं हुआ। किन्तु; यह स्वांग ही है। दर-असल उनकी वाणी स्पष्ट नहीं हो पाती और न वे अपने पक्ष को सिद्ध ही कर सकते हैं। सुधांशुजी ने इन वादों के लिये कोई ममता-मोह नहीं दिखलाया है। "छायावाद ने कल्पना का पुट देकर काव्य-शैली की व्यंजकता बहुत बढ़ाई," इस एक वाक्य के द्वारा उन्होंने छायावाद-आन्दोलन का उतना ही अभिनन्दन किया है, जितना उसके प्रबल-से-प्रबल समर्थक पूरा लेख लिखकर कर सकते थे तथा "छायावाद और रहस्

याद का अन्तर अब तक भी स्पष्ट नहीं हो सका है," यह कहकर तो उन्होंने उन सभी लोगों की बुद्धि और ज्ञान पर प्रश्न का चिह्न लगा दिया है, जिन्होंने प्रत्येक छायावादी रचना को देवदूत-दर्शन का रहस्यवाद सिद्ध करने में अपनी पूरी नहीं, तो आधी आयु तो अवश्य खर्च कर दी।

पुस्तक का दसवां अध्याय हिन्दी कविता के नौ कवियों (मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, जयशंकर प्रसाद, निराला, द्विज, सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, महादेवी और बच्चन) की रचनाओं के अन्तर्दर्शन के रूप में लिखा गया है। यह अन्तर्दर्शन कवियों को कुछ महंगा पड़ा है; किन्तु सन्तोष की बात है कि लेखक इस प्रसंग में स्वयं तटस्थ से रहे हैं, मानों वे इन साहित्यकारों के तद्गत रूप का वर्णन कर रहे हों।

सुधांशुजी की यह पुस्तक काव्यगत मनोविज्ञान के विश्लेषण का प्रयास है और इसका सारा वातावरण गहन एवं गम्भीर मालूम होता है। पुस्तक के प्रत्येक सन्दर्भ से लेखक की महती विद्वत्ता एवं ज्ञानशीलता टपकती है। काव्य को रचते अथवा पढ़ते हुए मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क की जो अवस्था होती है, उसकी वैज्ञानिक टिप्पणियों से सारी पुस्तक ओत-प्रोत है।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

भाव-विन्यास और जीवन

दूसरा अध्याय

जीवन का वातावरण और काव्य-प्रकृति

तीसरा अध्याय

आत्मभाव और काव्य-विधान

चौथा अध्याय

मन का ओज और रस

पाँचवाँ अध्याय

काव्य का अर्थबोध

छठा अध्याय

काव्य की प्रेरणा-शक्ति

सातवाँ अध्याय

लय और छंद

आठवाँ अध्याय

ग्रामगीत का मर्म

नवाँ अध्याय

कलागीत की प्रवृत्तियाँ

[

'भारती

'निराल

३०५—

राय 'व

जीवन और काव्य

दसवाँ अध्याय

अंतर्दर्शन

जीवन और काव्य

पहला अध्याय

भाव-विन्यास और जीवन

मूल भाव—
सुख और दुख

भाव का शाब्दिक अर्थ है स्थिति या वृत्ति। सांख्यशास्त्र ने इसके दो भेद कर बौद्धिक भाव और शारीरिक भाव के नाम से दिए हैं। यहाँ सांख्यशास्त्र की मीमांसा करना हमारा प्रयोजन नहीं है। मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत् की संवेदनाओं के कारण विकार उठते हैं, जो मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। मूल भाव वस्तुतः दो ही हैं—सुख और दुख। इन्हीं दोनों को दूसरे शब्दों में राग और द्वेष कहते हैं[1]। जीवन में राग और द्वेष के भाव किसी-न-किसी रूप में सदा वर्त्तमान रहते हैं। ये दोनों भाव कई भावनाओं के संश्लेषण के परिणाम हैं, जो वृत्ति-चक्र की तरह हृदय में बराबर उठते रहते हैं। इन दोनों भावों के अतिरिक्त, कुछ मनोवैज्ञानिक, 'उदासीनता' नाम से एक तीसरी स्थिति भी बताते हैं। वात्स्यायन ने 'मोह' से सम्भवतः इसी तीसरी स्थिति का बोध कराया है, जो स्पष्ट नहीं है। 'उदासीनता' वृत्ति का उल्लेख हमारे

---

1. सुखाद् रागः—वैशेषिक सूत्र ६, २, १०
दुखाद् द्वेषः—उपर्युक्त का उपस्कार

प्राचीन साहित्य में[१] पाया जाता है, किन्तु सुख और दुख की प्रधानता के सामने उदासीनता का महत्त्व गौण हो जाता है। जब तक मनोविकार सक्रिय नहीं रहता, तब तक उसकी चेष्टा भी नहीं दिखाई जा सकती। फलतः उदासीनता मूल विकार नहीं हो सकती।

सुख-दुख का प्रभाव और शरीर-मनोविज्ञान

डॉ० भगवानदास ने सुख और दुख को आत्मा की मात्रा माना है[२]। इसको इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि इन दोनों का सम्बन्ध आत्मा के रूप की अपेक्षा उसके परिणाम से ज्यादा सम्बद्ध है और इस प्रकार आत्मा के जीवन और उसके प्रदर्शन से ज्ञान, इच्छा और क्रिया—इन तीनों वृत्तियों के साथ वे सम्बन्ध रखते हैं। न्याय के अनुसार मनुष्य अपने जीवन में जानता है, इच्छा करता है और प्रयत्न करता है[३]। आत्मा की वृद्धि, विस्तार और आधिक्य का भाव सुख है और उसका ह्रास, संकोच और अल्पता दुख है[४]। अल्पता में सुख नहीं है, महत्ता ही प्रसन्नता है। पूर्ण महत्ता वही है, जब कि आत्मा किसी अन्य को देखती, सुनती, जानती नहीं; सर्वत्र अपनी ही महत्ता पाती

---

१. मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षाः मित्रोदासीन शत्रवः—महाभारत।

वन के मुनि भी अपने-अपने कर्मों को करते हुए वहाँ मित्र, शत्रु और उदासीन तीन पक्षों को बिना बनाए नहीं रह सकते।

२. Dr. Bhagwan Das: Science of the Emotions.

३. 'जीवो जानाति, इच्छति, यतते'

४. सुख और दुख के शाब्दिक अर्थ से भी यही प्रमाणित होता है। सु=सुलभ+ख=आकाश—व्याप्ति; दु=दुर्लभ+ख=व्याप्ति।

है[१]। मनुष्य अपनी चेतना की वैयक्तिक स्थिति में या तो सुख का अनुभव करता है या दुख का। शरीर-मनोविज्ञान के सूक्ष्म विश्लेषण से यह पता चलता है कि सुख की स्थिति में मनुष्य का शरीर विकसित तथा भारी रहता है। सुख की सत्ता से शरीर में वृद्धि तथा स्फूर्त्ति होती है। दुख के अनुभव से इसके विपरीत शरीर में लघुत्व, संकोच आदि होता है[२]। जीवन की साधारण घटनाओं में भी शरीर पर सुख या दुख की सत्ता का प्रभाव देखा जा सकता है।

सुख और दुख से उद्‌भूत राग तथा द्वेष, आश्रय और आलम्बन के विचार से, मनोविकारों के कई रूपों में परिवर्त्तित हो जाते हैं। ये रूपान्तर केवल स्वरूप में ही नहीं, बल्कि अलग-अलग मूल के रूप में भी होते हैं। राग और द्वेष जीवन के ये दो मुख्य तत्त्व हैं। इन्हीं दो तत्त्वों से हृदय में अगणित भावों की उत्पत्ति होती है।

आलम्बन के विचार से राग-द्वेष के रूपान्तरित भाव

---

१. नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं……यत्र नान्यत पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमः—छांदोग्य, ७, २३, १

२. By careful examination it appers that the pleasure is the feeling of an expansion, an increase of the self. The very essence of pleasure is an enhancement of the self, its growth its intensification, its superiority over others or over its own past states, its moreness in short—moreness than before and as compared with others'

Dr. Bhagwan Das; Science of the Emotions, (1924) Ch. X, pp. 340—41.

Titchener: An Outline of Psychology (1902) Ch. V, p. 112

Stoddart; The Mind and its Disorders. (1921) p. 58.

साहित्य-शास्त्र की रस-पद्धति भी इन दो ही तत्त्वों पर अवलम्बित है। जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में व्यक्ति की विशिष्टता, समानता तथा हीनता के अनुसार इन तत्त्वों में भी मौलिक परिवर्त्तन हो जाते हैं। विशिष्ट के प्रति राग, सम्मान हो जाता है, समान के प्रति प्रीति तथा हीन के प्रति करुणा। द्वेष-तत्त्व भी इसी प्रकार विशिष्ट के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध तथा हीन के प्रति दर्प के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। आलम्बन की भिन्नता के कारण राग और द्वेष भावों के उपर्युक्त रूपान्तरों की बात विचित्र होने पर भी सत्य है। जीवन के विविध क्षेत्रों में भावों के परिवर्त्तन देखे जाते हैं। आलम्बन की भिन्नता के अतिरिक्त उसके या उसकी समानता के प्रति भी आश्रय के हृदय में पूर्वापर विरोध-सम्पन्न भाव भी जन्म लेते हैं।

जीवन की गत्यात्मक स्थिति और विपरीत भावों का समवाय

मनुष्य का जीवन सदा एक सरल रेखा की गति से नहीं जाता। उस पर जगत् के नाना व्यापारों के घात-प्रतिघात लगा करते हैं। सरल रेखा-गति से चलने पर जीवन की विशिष्टता भी प्रमाणित नहीं होती और इस प्रकार का जीवन, भावों के उत्थान-पतन के अभाव के कारण, काव्य के उपयोग का नहीं रहता। जब तक जीवन पर जगत् के ऐसे व्यापारों का प्रभाव नहीं पड़ता, जो कभी तो उसे धक्का देकर आगे बढ़ा दे और कभी खींच कर पीछे लौटा ले, तब तक जीवन की दृढ़ता प्रकट नहीं होती। मनुष्य को जब आगे बढ़ने की शक्ति नहीं मिलती, तब वह वहीं बैठ जाता है। अधिकांश जीवन परिस्थितियों के आघात को सह नहीं सकते, विचलित होकर वे इधर-उधर हट जाते हैं।

परिस्थितियों की विषमता में जो दृढ़ता रखता, वह जगत् के ध्यान को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। काव्य का उत्कर्ष इसी प्रकार के जीवन के वर्णन से होता है। सरल जीवन में सरल भावों का समवाय दिखाना काव्य का प्रधान उद्देश्य नहीं हो सकता। जिस काव्य में विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र का वर्णन किया जाता है, वही काव्य यथार्थ में सच्चा काव्य है। विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र का तात्पर्य भावों के उन मूलों से है, जो एक दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं, बल्कि ठीक अनुलोम-प्रतिलोम की तरह होते हैं। क्रोध के साथ शांति, घृणा के साथ श्रद्धा, ईर्ष्या के साथ भक्ति दिखलाना ही काव्य के विपरीत वृत्ति-समूह का समवाय है। एक ही प्रकार के अनुकूल भाव-समूह आनन्द, उत्साह, अध्यवसाय आदि से जीवन में विविधता तथा शक्ति का प्रदर्शन नहीं हो पाता। मनुष्य के अन्तर्जगत् में गर्व और नम्रता, पाप और पुण्य, कर्कशता और कोमलता, निष्ठुरता और करुणा का समावेश कर उनके मूल की स्वाभाविकता दिखलाने से जीवन के रहस्य का बहुत-कुछ उद्घाटन हो जाता है। जीवन के मूल रहस्य का ऐसा स्पष्टीकरण काव्य की मर्यादा बढ़ाने में समर्थ होता है। भावों के ऐसे अन्तर्द्वन्द्व से जीवन में शक्ति और सजीवता आती है। कभी-कभी एक ही स्थिति में, एक ही आश्रय में भावों का ऐसा विपरीत-मूलक अन्तर्विरोध उठता है, जो प्रत्यक्ष में अस्वाभाविक मालूम होता है, किंतु भावुक कवि इस अंतर्विरोध के मूल को आलम्बन के अनुबंध-ज्ञान से ऐसा स्पष्ट कर देता है कि वह उतना ही सजीव और स्वाभाविक मालूम पड़ने लगता है। संकल्प के साथ कर्त्तव्य का युद्ध दिखलाना दार्शनिक कवि का

काम है। घृणा-भाव के मूल के निकट ही प्रेम-तत्त्व को दिखलाना काव्य की विशिष्टता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जीवन में सर्वत्र ही विपरीत वृत्ति-समूह का समवाय ही दिखाया जाय। भावों के स्वाभाविक परिवर्त्तन और गति-क्रम को दिखलाना कला का सच्चा उद्देश्य है, पर जीवन को कुछ दूर तक सरल रेखा की गति से चलाने का भी विशेष प्रयोजन है। जब तक जीवन सरल रेखा पर कुछ दूर तक भी गतिशील नहीं होता, तब तक उसमें जगत् के व्यापारों के घात-प्रतिघात से प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रतिक्रिया निवृत्ति नहीं है, क्योंकि यह हृदय की इच्छित वृत्ति नहीं। निवृत्ति में इच्छा का योग है, किन्तु प्रतिक्रिया तो उसी स्थिति में उत्पन्न होती है, जब हृदय को उस की न्यूनतम आशंका हो। शकुन्तला के जीवन में पति-प्रेम की ऐकांतिक भावना से जो एक सरल गति आई थी, वह दुष्यंत द्वारा अपमानित होने पर वक्र हो गई। जीवन की ऐसी ही स्थिति में मनुष्य के हृदय में भावों का समुद्र उमड़ता है, पर उसको संयत रख कर उसके सौन्दर्य से जगत को प्रभावित करना सच्चा कलाकार ही जानता है।

स्थिति की अनुरूपता तथा चारित्रिक विशेषता के उपलक्ष्य पर, जीवन में भावों का विन्यास दिखाना काव्य का उद्देश्य है।

लोक-सामान्य भाव-भूमि और जीवनकी मर्यादा

जीवन की लोक-सामान्य भाव-भूमि पर काव्य के वर्णन में व्यक्तित्व की मर्यादा प्रायः नहीं रखी जाती। इसका कारण यह है कि हृदय में भावों के जो भिन्न-भिन्न वृत्ति-चक्र हैं वे सब समस्त मानव-सृष्टि में न्यूनाधिक रूप से एक ही प्रकार के

उपकरणों से निर्मित हैं। यदि दुख दुख है; सुख सुख है तो इनमें रंक और राजा का भेद मिट जाता है। किसी प्रिय जन का वियोग यदि वस्तुतः सम्वेदनीय वियोग है, तो संसार का समस्त वैभव भी हृदय की उस वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता। जहाँ जीवन के उच्चतर तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है, वहाँ मानवता एक सामान्य रूप में सिमिट जाती है। उसकी सारी विविधताएँ मिट जाती हैं। रघुवंश की इंदुमति के देहांत पर आज का विलाप एक सामान्य पुरुष का विलाप है, किसी नृपति का नहीं। कुमारसंभव में मदन-दहन के उपरांत, रति का विलाप, एक सामान्य स्त्री का विलाप है। भावों की सत्ता में व्यक्तित्व की विशेषताएँ डूब जाती हैं। राजा-रंक अपने सुख-दुख से हँसते-रोते हैं। इन भावों में उनके प्रति केवल मात्रा का भेद रहता है। इस प्रकार के वर्णन में कवि का उद्देश्य मुख्यतः वर्णन द्वारा मूल भावनाओं का विन्यास ही दिखाना होता है। वैयक्तिक विशेषता एक उपलक्ष्य मात्र रहती है और वर्णन उसका प्रधान विषय हो जाता है। यही कारण है कि अज के शब्दों में कोई भी विधुर पुरुष, स्थिति की अनुरूपता पर, विलाप कर सकता है और कोई भी सद्यः वैधव्य-ग्रसित नारी, रति के स्वर में, रो सकती है। यदि भावों के ये विन्यास सामान्य जीवन को स्पर्श करते हुए नहीं चलते, तो वे काव्य न होकर कुछ और ही होते।

जीवन में कर्मों की एकरूपता देखकर भावों की एकरसता का विचार किया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक प्रकार के कर्म करते हुए भी, कर्त्ताओं में भावों की विभिन्नता रहती है, किन्तु एक ही स्थिति में रहकर और एक ही प्रकार के

कर्म करने में प्रेरक भावों की एकरूपता निश्चित की जा सकती है। पश्चिमी मनोवैज्ञानिक भी मनुष्य की समान धाराओं की सत्यता स्वीकृत करते हैं। जिस वस्तु से हमें घृणा है उस वस्तु से यदि एक दूसरा व्यक्ति भी घृणा करता है, तो वह हमारे इस भाव के अनुकूल ही भाव रखता है। जो हमारे दुख में अनुकम्पा प्रकट करता है, वह निश्चय ही हमारी उस स्थिति को सत्य समझता है। जो हमारी ही तरह किसी काव्य या चित्र को पसन्द करता है और ठीक हमारे ही शब्दों में उसकी प्रशंसा करता है, तो वह वस्तुतः हमारे विचार को समुचित समझता है! जो एक व्यंग्य पर हमारे साथ, हमारी ही तरह, हँसता है वह हमारी हँसी की उपयुक्तता को अस्वीकृत नहीं कर सकता[1]।

भाव और कर्म का समन्वय

वाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के तारतम्य में एक सौन्दर्य है। यह सत्य है कि जो वाह्य है वह अंतः नहीं, किन्तु दोनों एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। मनुष्य के वाह्य जगत् के सौन्दर्य का उपभोग तो न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी कर सकते हैं, परन्तु अन्तर्प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग करने की क्षमता कवि ही रखता है। जीवन में वाहर-वाहर जो सौन्दर्य देखा जाता है वह भीतर के माधुर्य को पुष्ट करता है और भीतर के सौन्दर्य से वाहर उद्दीप्त होता है। जो कवि रूप-सौन्दर्य के साथ ही गुण-सौन्दर्य का चित्रण कर सकता है, वही सच्चा कवि है। काव्य की यह प्रणाली नाटक में अच्छी तरह

अन्तर्वाह्य प्रकृति और जीवन

---

१. Adam Smith : Theory of the moral Sentiments, Pt. I. Sec. I.

देखी जा सकती है। मनुष्य की अंतर्प्रकृति में भावों का स्वाभा-
विक व्यतिक्रम दिखाना बड़े महत्त्व की बात है। घृणा के बदले
प्रेम और प्रतिहिंसा के बदले कृतज्ञता दिखाने से मानव-हृदय की
सूक्ष्मता का पता चलता है। इसी परिवर्त्तन को दिखाना जीवन
का स्पष्टीकरण है।

केवल तर्क और बुद्धि-वृत्ति के अनुसार मनुष्य तक भी काम
नहीं करता। उसके प्रत्येक कर्म के मूल में किसी-न-किसी प्रकार
का भाव छिपा मिलेगा। भाव स्वतः प्रत्यक्ष नहीं
रहता, वह कर्म के रूप में ही अपने आश्रम में
प्रत्यक्ष होता है। मनुष्य की कोई भी क्रिया
तबतक कर्म नहीं मानी जा सकती, जबतक
उसमें उसकी इच्छा का योग न पाया जाय। जीवन में जबतक
भाव से कर्म का विधान नहीं होता, तबतक वह उपयोगी तो क्या,
अपने अस्तित्व को भी प्रमाणित कर सकने में समर्थ नहीं हो
सकता। मनुष्य के प्रत्येक प्रेरक भाव के विश्लेषण से जीवन की
सारी क्रियाओं का रहस्य प्रकट हो जाता है। कर्म पर धर्म का
आवरण रखकर एक भिन्न प्रकार से ही इसकी समीक्षा की जा
सकती है। पूर्व और पश्चिम के धर्म की धारणाएँ भिन्न-भिन्न
हैं। इस प्रकार धर्म की धारणाएँ भिन्न रहने से उनका प्रभाव
काव्य पर भी पड़ता है। पूर्वीय विचार से कर्म के परिणाम की
समीक्षा उसके प्रेरक भाव से होती है और पश्चिमी विचार के
अनुसार उसका परिणाम ही मुख्य है। सद्भाव की प्रेरणा से किए
हुए किसी कर्म का परिणाम यदि अनिष्टकारक भी हुआ, तो कर्त्ता
दोषी नहीं माना जा सकता, किन्तु इसके विपरीत पश्चिमी मत से

भाव और कर्म विधान में पूर्व और पश्चिम का भेद

कुभाव-प्रेरित कर्म का परिणाम यदि संयोगवश हितकर प्रमाणित हुआ, तो कर्त्ता पुण्य का अधिकारी हो सकता है। कुछ दार्शनिक इससे भिन्न विचार भी रखते हैं[१]।

धर्म की धारणाओं के इस अंतर ने जीवन की प्रकृति में थोड़ी विभिन्नता ला दी है। जहाँ शुद्ध मानवता की दृष्टि से जीवन का प्रश्न है, वहाँ जगत् के काव्य में एकरूपता है, पर जहाँ देश की सभ्यता तथा संस्कृति से प्रेरित भावों के आवरण से जीवन आच्छादित हो गया है वहाँ यही समझना चाहिए कि उस सभ्यता तथा संस्कृति से पृथक् जीवन कुछ नहीं है। इस विषय में अब कुछ पश्चिमी लेखक भी अन्यथा विचार रखने लगे हैं। डा० जॉन्सन के चरित्र-लेखक बौसवेल ने उनके कथन को इस प्रकार अंकित किया है कि यदि किसी भिखारी के शिर को फोड़ने के विचार से हम उस पर पैसे फेंके और वह उन पैसों को चुनकर अपना पेट पाले तो उसके लिए हमारा यह काम अच्छा ही हुआ, किन्तु हमारे इस कार्य के अभिप्राय को कोई अच्छा नहीं कह सकता। कर्म के केवल परिणाम पर ही अभिप्राय निर्भर नहीं करता। कर्म में जबतक बुद्धि-वृत्ति के अनुसार अनुव्यवसाय, प्रत्यभिमान, प्रत्ययानुपश्यता आदि न हो तबतक उस कर्म का सारा श्रेय कर्त्ता को नहीं दिया जा सकता। आवेग, उद्वेग, क्षोभ आदि से जिन कर्मों की प्रेरणा होती हो

इच्छा तथा कर्म का सम्वन्ध और जीवन की प्रकृति

---

१. There is no real reason to doubt the good or evil in the motive of an action is exactly measured by the good or evil in its consiquence. Green: Prolegomena to Ethics. P.320.

और कर्म का विधान हो जाने पर चित्त की साधारण स्थिति में कर्त्ता यदि अपने पूर्व निश्चय में परिवर्त्तन करना न चाहे, तो उस कर्म के साथ उसके जीवन का सम्बन्ध देखा जा सकता है। करुणा के आवेग में यदि किसी व्यक्ति ने एक भिखारी को, अपनी जेब में पैसा न पाकर, रुपया ही दे दिया और आवेग के शांत होने पर पैसे के बदले रुपया देने का उसे पश्चात्ताप हुआ, तो वह सम्पूर्ण कर्म का अधिकारी नहीं माना जा सकता। इच्छा-पूर्वक कर्म का नियोजन ही जीवन है। भाव और विचार से जीवन की सत्ता पृथक् नहीं है। उच्च भाव तथा विचार से प्रेरित होकर कर्म करनेवाले अध्यवसायी व्यक्ति ही महापुरुष कहलाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जीवन की उच्चता या नीचता का विचार भावों की क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कुछ लोग केवल भावों की सत्ता पर विश्वास न कर, जीवन की महत्ता का सम्बन्ध प्रतिभा के साथ भी लगा सकते हैं। जीवन की महत्ता में प्रतिभा के योग को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, किन्तु जीवन के निर्माण में प्रतिभा कोई आवश्यक प्रतिबन्ध नहीं। जिसके हृदय में भावों की सचाई है, उच्चता है, वह प्रतिभा सम्पन्न न होने पर भी अपने जीवन की एक मर्यादा रखता है। यदि किसी के हृदय में किसी की वस्तु चुरा लेने का भाव है तो राज-नियम की दृष्टि में वह अभी अपराधी नहीं हो सकता, परन्तु धर्म-नियम तो उसे वहीं पकड़ लेता है। यह भाव यदि उसके हृदय में जम गया है, तो उसके जीवन के अन्य सारे कर्म उसी से प्रेरित होंगे। सुविधा मिलने पर वह चोरी करना नहीं छोड़ सकता। न्यायशास्त्र के जिस कथन का उल्लेख मैंने किया

है, उसके अनुसार भी मनुष्य पहले जानता, तब इच्छा करता और उसके उपरांत प्रयत्नशील होता है। चोर भी लोभनीय पदार्थ को प्राप्त कर सुखी बनने का ज्ञान रखता है और तब सुख को प्राप्त करने की इच्छा से उस पदार्थ को चुराने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत उच्च कर्मों के विधान में भी इच्छा का कर्म के साथ ऐसा ही सम्बन्ध रहता है। जीवन को महत् बनानेवाला जो प्रयत्न-सौंदर्य संसार में देखा जाता है उसका मूल यही भाव है। इच्छा को छोड़कर जीवन की सत्ता अन्यत्र नहीं है। इच्छा ही मनुष्य है[१]। जिसके हृदय में, जिस वस्तु के लिए, जिस ढंग की इच्छा होती है वह वैसा ही होता है[२]। इच्छा जाग्रत होने पर चित्त में जो स्पन्दन होता है, वही जीव है। अतः चित्त ही जीव है, ऐसा भी कहा जा सकता है। चित्त का स्पन्दन जिस प्रकृत का होता है, उसी प्रकृति का वह जीवन बनता है। इस मत से पूर्व और पश्चिम, दोनों के दार्शनिक विचारक प्रायः एकमत हैं[३]।

भाव, मानसिक शक्ति और जीवन

काव्य में जिन घटनाओं के उल्लेख से मानसिक विप्लव उपस्थित होने की आशंका रहती है, उनकी वांछनीयता या अवांछनीयता पर ध्यान रख कर ही काव्यकार उसका उल्लेख करता है। जो काव्यकार, पाठक के हृदय में, विप्लव को जगा कर उससे अपना कामभर चला लेने के बाद उसे शांत रखने की क्षमता रखता है, वही सच्चा

---

१. काममय एवायं पुरुषः, बृहदारण्यक, ४, ४, ५,

२. Lay: Tha child's unconseious mind, P. 15.

३. जीवश्चित्त परिस्पंदः पुंसां चित्तं स एव च·—योगवाशिष्ठ ३-१४।
Every thing is in sensation—Hegel: Philosophy of mind P. 21. (English Translation by wallace)

कलाकार है। बहुत से भाव ऐसे होते हैं जो एक बार जग जाने पर बहुत देर तक संयत नहीं हो पाते। जो व्यक्ति निर्बल मानसिक शक्तिवाले होते हैं, वे कभी कभी भावों का रूप मानसिक न रखकर शारीरिक क्रिया द्वारा अभिव्यंजित करते हैं। किसी बच्चे के मुख से किसी घटना का वर्णन सुनने से इसकी सत्यता प्रगट हो जाती है। उसके वर्णन में शब्दों से अधिक अंगों की क्रिया रहती है। किसी शब्द के रूप पर, मन-ही-मन विचार करते समय भी, हमारी जिह्वा, मूर्धा, तालु आदि उच्चारण में योग देनेवाले अंग तदनुकूल स्पन्दित हो जाते हैं[1]। जिस ढंग के जो भाव हैं वे मन में स्थान पाते ही मनुष्य को अपने अनुरूप क्रिया-तत्पर करने के लिये बाध्य करने लगते हैं। हँसी की बात सुनकर लोग हँसना रोक नहीं सकते। शोक की बातें सुनकर दुखी बनना छोड़ नहीं सकते। जिस प्रकृत का जो भाव होता है, वह तत्काल ही अपने प्रभाव को व्यंजित करता है। हँसने लायक बातों को सुनकर मनुष्य तत्काल ही हँसता है। दो-चार घण्टे के बाद हँसने के लिए अपने को संयत नहीं रख सकता। यह दूसरी बात है कि उसी बात की याद कर बार-बार हँसी आवे, किन्तु पहली बार उस बात का प्रभाव पड़ता ही है। इसी प्रकार किसी-न किसी प्रकार का भाव अपनी सत्ता को प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। बहुत से धूर्त्त-चालबाज आदमी ऐसे होते हैं, जो अपने मन के भावों को छिपाने में कुछ सफल भी हो जाते हैं, पर उन्हें इसके लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसे प्रयत्न के फल-स्वरूप प्रभाव की वाह्य अभिव्यक्ति तो दबी-सी रहती है,

---

१. Dr. Bain: The Senses and the Intellect. P. 457.

किन्तु अन्तर्जगत में उसके संस्कार को कोई नष्ट नहीं कर सकता। यह उसी दशा में सम्भव है, जब उस व्यक्ति के हृदय की वृत्तियाँ कुंठित हो गई हों। गम्भीर व्यक्ति में यह देखा जाता है कि छोटे-छोटे भाव उनकी मानसिक स्थिति को बदलने में समर्थ नहीं होते, यह इसलिये कि उनकी गम्भीरता उन छोटे-छोटे भावों से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी और व्यापक होती है।

भावों का वर्गीकरण, उनकी प्रक्रिया और जीवन पर प्रभाव

भावों की सूक्ष्मता पर विचार कर उनके दो मुख्य वर्गीकरण किए जा सकते हैं—एक शक्त और दूसरा अशक्त। क्रोध, उत्साह, साहस आदि शक्त भाव हैं और करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि अशक्त। सहृदय मनुष्य में भावों की सभी वृत्तियाँ रहती हैं। सहृदयता का अर्थ केवल सहानुभूति-पूर्ण हृदय नहीं, बल्कि हृदय की जितनी वृत्तियाँ हैं सब की स्थिति है। क्रोध के अवसर पर क्रोध करना, करुणा के अवसर पर सहानुभूति दिखाना सच्ची सहृदयता है। उच्च और शक्तिशाली जीवन का निर्माण केवल शक्त भावों से ही नहीं होता, यथार्थ में जीवन की सार्थकता के लिए अशक्त भावों का अवलम्बन भी आवश्यक है। वास्तविक जीवन में मनुष्य के सुख की प्रवृत्ति और दुख की निवृत्ति रहती है। बड़े-बड़े दयावीर भी दूसरे के अगाध दुःख को देखकर अपना मुख इसलिए फेर लेते हैं कि उस दुःख को दूर करना उनकी शक्ति के बाहर की बात है। इस प्रकार मुख फेरने में दुःखी के दुःख को दूर करने की अनिच्छा नहीं झलकती, प्रत्युत निराशा झलकती है। दुःख की अपरिसीमिता को देखकर तदनुरू अपनी असमर्थता जान कर उनके हृदय में जो दुःख होता

भाव की प्रकृति और जीवन में उसका परिणाम

भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग में स्पष्ट अन्तर है। भाव को वार-वार उत्तेजित कर यदि उसके अनुसार कार्य न कर चित्त को शान्त कर दिया जाय, तो कुछ दिनों के बाद वह निष्क्रिय हो जाता है। भाव की प्रेरणा का अनुसारी-कार्य नहीं करने से हृदय अपमानित होकर उस वृत्ति को ही छोड़ देता है। दुःखी के दुःख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उस करुणा की प्रेरणा के अनुसार दुःखी की सहायता कर हृदय को सन्तुष्ट न किया जाय, तो एक दिन ऐसा समय भी आयगा, जब किसी के दुःख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न ही न होगी। उस भाव के लिए हृदय जड़ हो जायगा। जिस दृश्य को देखकर भावावेग उत्पन्न होता है, सदा उसके अनुसार कार्य करने से मनुष्य की प्रकृति में वह एक स्थान प्राप्त कर लेता है। रास्ते से चलते हुए पगले को देखकर लड़के उसे स्वभावतः तङ्ग किया करते हैं। इससे पागल कुढ़ता है, झुंझलाता है और क्रुद्ध होता है। वार-वार ऐसा किये जाने पर जब कभी वह अपने आसपास लड़कों के झुण्ड को देखता है, तब वह क्रोध के भावावेग में आ जाता है। मानव-प्रकृति की यह विशेषता है कि वह भाव-स्थिति या उसके आवेग के कारण ही किसी कार्य की ओर प्रेरित नहीं होती, वल्कि अचेतन रूप में भी स्वभावगत कार्य की ओर प्रेरित हो जाती है।

संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उनसे मूर्ख और विद्वान् दोनों ही अपने-अपने ढङ्ग से आनन्द और विषाद ग्रहण करते हैं। उन्हें यह वताने की आवश्यकता नहीं कि आनन्द और विषाद के कौन-

जाया करती हैं। मनुष्य के हृदय में अपने सम्बन्ध में जो संवेदना उठती है, उसी के अनुसार उसके जीवन का निर्माण होने लगता है। मानव-हृदय भावों का सन्तुलन रखने की चेष्टा करता है। जहाँ बन्धन है, गति का अवरोध है, वहाँ भावों की क्रिया उसे तोड़ने का प्रयत्न करती है। अपनी कृतकृत्यता पर मनुष्य को गर्व होता है। वस्तुतः यह गर्व अपनी कृतकृत्यता से उऋण होने के लिए होता है। अपने दुःख के सजीव कारण पर मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध दुःख को दूरकर हृदय को समान स्थिति में रखने के प्रयत्न-स्वरूप होता है। अपनी प्रशंसा सुनकर मनुष्य को प्रसन्नता होती है। यह प्रसन्नता अपनी आनन्दमयी स्थिति की कल्पना से होती है, जिसके आधार पर प्रशंसा के वे शब्द व्यक्त हुए हैं। मनुष्य जैसा है, जिस स्थिति में है, वैसा कहना प्रसन्नता को उत्तेजित नहीं करता। जितना वह है, उतने से अधिक पर ही उसकी प्रसन्नता निर्भर करती है। अतः जो वह नहीं है, वही बनने या समझे जाने की भावना से वह प्रसन्न होता है। इसी प्रकार प्रसन्नता पाने की चाट पाकर वह खुशामद-पसन्द और उसे न पाकर वह आत्म-प्रशंसी बन जाता है। कल्पना के आनन्द से तृप्ति न मिलने पर वह अपने मुख से ही अपनी प्रशंसा के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार की बाध्यता प्रसन्नता की चाट पाकर ही होती है। यही अहङ्कार की पहली सीढ़ी है। जो मनुष्य आत्मश्लाघी होता है, उसकी तर्क-बुद्धि मारी जाती है। अपने ऊपर कहे गए व्यंग्यों को समझने की शक्ति उसे नहीं रहती। जीवन की दिशा को बदलने में भाव बड़ा महत्त्व रखता है। कर्म के अभाव में जीवन का कुछ भाव नहीं माना जा सकता।

भाव की प्रकृति और जीवन में उसका परिणाम

भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग में स्पष्ट अन्तर है। भाव को वार-वार उत्तेजित कर यदि उसके अनुसार कार्य न कर चित्त को शान्त कर दिया जाय, तो कुछ दिनों के बाद वह निष्क्रिय हो जाता है। भाव की प्रेरणा का अनुसारी-कार्य नहीं करने से हृदय अपमानित होकर उस वृत्ति को ही छोड़ देता है। दुःखी के दुःख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उस करुणा की प्रेरणा के अनुसार दुःखी की सहायता कर हृदय को सन्तुष्ट न किया जाय, तो एक दिन ऐसा समय भी आयगा, जब किसी के दुःख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न ही न होगी। उस भाव के लिए हृदय जड़ हो जायगा। जिस दृश्य को देखकर भावावेग उत्पन्न होता है, सदा उसके अनुसार कार्य करने से मनुष्य की प्रकृति में वह एक स्थान प्राप्त कर लेता है। रास्ते से चलते हुए पगले को देखकर लड़के उसे स्वभावतः तङ्ग किया करते हैं। इससे पागल कुढ़ता है, झुंझलाता है और क्रुद्ध होता है। वार-वार ऐसा किये जाने पर जब कभी वह अपने आसपास लड़कों के झुण्ड को देखता है, तब वह क्रोध के भावावेग में आ जाता है। मानव-प्रकृति की यह विशेपता है कि वह भाव-स्थिति या उसके आवेग के कारण ही किसी कार्य की ओर प्रेरित नहीं होती, वल्कि अचेतन रूप में भी स्वभावगत कार्य की ओर प्रेरित हो जाती है।

संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उनसे मूर्ख और विद्वान् दोनों ही अपने-अपने ढङ्ग से आनन्द और विपाद ग्रहण करते हैं। उन्हें यह वताने की आवश्यकता नहीं कि आनन्द और विपाद के कौन-

ाया करती हैं। मनुष्य के हृदय में अपने सम्बन्ध में जो संवेदना ठती है, उसी के अनुसार उसके जीवन का निर्माण होने लगता है। मानव-हृदय भावों का सन्तुलन रखने की चेष्टा करता है। जहाँ बन्धन है, गति का अवरोध है, वहाँ भावों की क्रिया उसे तोड़ने का प्रयत्न करती है। अपनी कृतकृत्यता पर मनुष्य को गर्व होता है। वस्तुतः यह गर्व अपनी कृतकृत्यता से उऋण होने के लिए होता है। अपने दुःख के सजीव कारण पर मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध दुःख को दूरकर हृदय को समान स्थिति में रखने के प्रयत्न-स्वरूप होता है। अपनी प्रशंसा सुनकर मनुष्य को प्रसन्नता होती है। यह प्रसन्नता अपनी आनन्दमयी स्थिति की कल्पना से होती है, जिसके आधार पर प्रशंसा के वे शब्द व्यक्त हुए हैं। मनुष्य जैसा है, जिस स्थिति में है, वैसा कहना प्रसन्नता को उत्तेजित नहीं करता। जितना वह है, उतने से अधिक पर ही उसकी प्रसन्नता निर्भर करती है। अतः जो वह नहीं है, वही बनने या समझे जाने की भावना से वह प्रसन्न होता है। इसी प्रकार प्रसन्नता पाने की चाट पाकर वह खुशामद-पसन्द और उसे न पाकर वह आत्म-प्रशंसी बन जाता है। कल्पना के आनन्द से तृप्ति न मिलने पर वह अपने मुख से ही अपनी प्रशंसा के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार की बाध्यता प्रसन्नता की चाट पाकर ही होती है। यही अहङ्कार की पहली सीढ़ी है। जो मनुष्य आत्मश्लाघी होता है, उसकी तर्क-बुद्धि मारी जाती है। अपने ऊपर कहे गए व्यंग्यों को समझने की शक्ति उसे नहीं रहती। जीवन की दिशा को बदलने में भाव बड़ा महत्त्व रखता है। कर्म के अभाव में जीवन का कुछ भाव नहीं माना जा सकता।

भाव की प्रकृति और जीवन में उसका परिणाम

भाव की साधारण स्थिति तथा उसके आवेग में स्पष्ट अन्तर है। भाव को बार-बार उत्तेजित कर यदि उसके अनुसार कार्य न कर चित्त को शान्त कर दिया जाय, तो कुछ दिनों के बाद वह निष्क्रिय हो जाता है। भाव की प्रेरणा का अनुसारी-कार्य नहीं करने से हृदय अपमानित होकर उस वृत्ति को ही छोड़ देता है। दुःखी के दुःख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उस करुणा की प्रेरणा के अनुसार दुःखी की सहायता कर हृदय को सन्तुष्ट न किया जाय, तो एक दिन ऐसा समय भी आयगा, जब किसी के दुःख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न ही न होगी। उस भाव के लिए हृदय जड़ हो जायगा। जिस दृश्य को देखकर भावावेग उत्पन्न होता है, सदा उसके अनुसार कार्य करने से मनुष्य की प्रकृति में वह एक स्थान प्राप्त कर लेता है। रास्ते से चलते हुए पगले को देखकर लड़के उसे स्वभावतः तङ्ग किया करते हैं। इससे पागल कुढ़ता है, झुंझलाता है और क्रुद्ध होता है। बार-बार ऐसा किये जाने पर जब कभी वह अपने आसपास लड़कों के झुण्ड को देखता है, तब वह क्रोध के भावावेग में आ जाता है। मानव-प्रकृति की यह विशेपता है कि वह भाव-स्थिति या उसके आवेग के कारण ही किसी कार्य की ओर प्रेरित नहीं होती, बल्कि अचेतन रूप में भी स्वभावगत कार्य की ओर प्रेरित हो जाती है।

संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उनसे मूर्ख और विद्वान् दोनों ही अपने-अपने ढङ्ग से आनन्द और विपाद ग्रहण करते हैं। उन्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि आनन्द और विपाद के कौन-

कौन से तत्त्व हैं। व्यावसायिक उपयोगितावाद के इस युग में
विषादोत्पादक वस्तुओं से भी कुछ-न-कुछ आनन्द का रस निचोड़ा
जा सकता है; किन्तु नैतिक उपयोगितावाद इन वस्तुओं से विशेष
प्रयोजन नहीं रखता। यह इसलिये नहीं कि विषाद अनैतिक
होता है। जीवन के साथ विषाद का सम्बन्ध उतना ही गहरा
है, जितना आनन्द का। काव्य का आनन्द जीवन का स्वार्थ है,
परन्तु यह स्वार्थ परमार्थ की परिधि के भीतर रहता आया है।
स्थायी आनन्द-वृत्ति जब जगत् और जीवन के किसी आधार को
पाकर जाग्रत होती है, तब प्रफुल्लता आती है और विषाद-वृत्ति में
झुंझलाहट। ऐसे मनोभाव अपनी मूल-वृत्तियों की स्थिति को
सूचित करते हैं। मनुष्य जब जिस स्थिति में रहता है, तब वह
साधारणतः स्थिति की गम्भीरता के कारण उसी में निमग्न रहता
है। इस निमग्नता को तोड़कर जब कभी कोई व्यक्ति उसे उस
स्थिति से हटाना चाहता है, तब वह फिर-फिर उसी भाव में डूबे
रहने की चेष्टा करता है। यह स्थिति तब तक बनी रहती है, जब
तक उस स्थिति में बने रहने की सारी शक्ति निःशेष नहीं हो जाती

दूसरा अध्याय

जीवन का वातावरण और काव्य-प्रकृति

हमारे जीवन के चारों ओर अलक्ष्य रूप से संस्कार का एक ऐसा वातावरण फैला रहता है, जिसका प्रभाव हमारे कल्पनाशील मन पर बराबर पड़ता है। यह एक प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति है, जिसे हम देख तो नहीं सकते, किन्तु उसके प्रभाव से बचने की क्षमता भी नहीं रखते। जब हम कभी निरपेक्ष होकर चुपचाप बैठे रहते, तब हमारे मन में कितने ही प्रकार के मनोविकार उठते और विलीन होते हैं। कभी अच्छे संस्कारों का उद्भव होता है और कभी बुरे। संस्कारों का यह अस्तित्व जगत् के अणु-परमाणु में है और जिसके मन में जैसे संस्कारों को ग्रहण करने की जैसी शक्ति रहती है, वह वैसे ही संस्कारों को उसी तरह अपनाता है। बाह्य जगत् में ऐसे संस्कारों की सत्ता मान कर भी यह कहा जा सकता है कि जीवन के साथ उसका कोई प्रकट सम्बन्ध नहीं। इसी कारण ऐसे संस्कारों का सम्बन्ध आध्यात्मिक ही माना जाता है। किसी ऋषि के शान्त तपोवन में, जहाँ सिंह के सामने मृग-शावक किलोलें करते हैं, मत्त मयूर के सामने फणिधर फण फैलाते

जीवन और संस्कार

हैं, वहाँ उस ऋषि के अहिंसक संस्कार का ही वातावरण है। जहाँ का वातावरण दूषित रहता है, वहाँ का कुप्रभाव भी निर्बल धारणा-शक्तिवाले व्यक्ति के चित्त पर पड़े विना नहीं रहता। किसी के व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकृत कर नत-मस्तक होना आध्यात्मिक संस्कार का ही प्रभाव है। जीवन में संस्कारों की जो आध्यात्मिक सत्ता दिखाई देती है, वह जीवन के आवरण में रहकर काव्य में भी आती है। संस्कारों के योग से, जीवन की तरह, काव्य की प्रकृति में भी थोड़ा-बहुत तदनुकूल परिवर्त्तन होता है।

आरम्भ से ही हमारा जीवन, सामाजिक अनुकरण के आधार पर अपनी लौकिक पूर्णता को प्राप्त करने का उद्योग करता है। यह

सामाजिक-जीवन और मनोविकार

बात केवल जीवन की स्थूल क्रियाओं को ही ध्यान में रखकर नहीं कही जाती, प्रत्युत् जहाँ सूक्ष्म मनोविकारों का विकास होता है, वहाँ भी हम देखते हैं कि उन मनोविकारों ने अपने विकास के लिए समाज के ही किसी-न-किसी अङ्ग का आश्रय लिया है। क्षमा, क्रोध, उत्साह, सहानुभूति आदि मनोविकार नैसर्गिक अवश्य हैं, किन्तु इन सव की सत्ता समाज में ही प्रकट की जा सकती है और समाज से ही उसका पोषण हो सकता है। ईर्ष्या-जैसे दूषित मनोविकार का जन्म समाज की धारणा पर ही अवलम्बित है। स्पर्द्धा तो वस्तुगत होती है और ईर्ष्या व्यक्तिगत। समाज की दृष्टि जब दो समान व्यक्तियों पर एक साथ पड़ती और दोनों के विकास में विषमता पायी जाती है, तव क्षुद्र व्यक्ति के हृदय में समाज की इस धारणा के फल-स्वरूप दूसरे व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न

होती है। वस्तुतः इस ईर्ष्या से उस व्यक्ति का कोई लाभ नहीं होता। वह समाज में अपने अभीष्ट पद का अधिकारी नहीं होता, तब भी ईर्ष्या में जलकर ही वह अपने हृदय को सन्तुष्ट कर लेता है। सदाचार से सुख प्राप्त हो सकता है, पर सदैव नहीं। यदि सदाचार से सुख प्राप्त होने का नियम अटल रहता, तो संसार में दुराचारी खोजने से भी नहीं मिलते; क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता। असत्यवादी असत्य बोलकर भी समाज में कम-से-कम अपने को सत्यवादी बनने का ही ढोंग रचता है। प्रत्येक असत्य का विधान सत्य के अनुकरण पर ही होता है। इसी प्रकार लोभी अपने को निर्लोभ तथा चोर अपने को ईमानदार प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। यह सदाचार की विशेषता ही है कि मनुष्य उसका अधिकारी न होने पर भी अपने को वैसा ही दिखलाने का प्रयत्न करता है। यथार्थ में जो व्यक्ति गुणवान रहते हैं, वे दूसरों के दोष पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति नहीं रखते। यह इसलिए कि उनकी वृत्तियों के लिये उनके पास साधन है, जिसमें वे लीन हो सकें। जिस व्यक्ति के पास कोई गुण नहीं रहता, वह ईर्ष्या के वशीभूत होकर दूसरे के गुण पर आक्रमण करता है। इस प्रकार की भावना में अपने जीवन के विकास की धारणा नहीं रहती। समाज में अपनी स्थिति को दूसरों से कम देखकर मन में जलन उत्पन्न होती है। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी इस विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है। मनुष्य की वृत्तियों का सन्तोष, गुण को प्राप्तकर या वहाँ तक पहुँचकर ही होता है; चाहे वह उसे अपने पास मिले या दूसरे के पास। गुणहीन व्यक्ति भी दूसरे के गुण की विशेषता

के सामने नत-मस्तक होता है। इससे यह प्रमाणित है कि मनुष्य की सत्प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। गुणहीन व्यक्ति को जब यह पता लगता है कि गुणी की उच्चता ने समाज की धारणा में उसका स्थान हेय बना दिया है, तब उसकी बुद्धि की निर्बलता कुप्रवृत्तियों को जन्म देने लगती है। अपने घर में भोजन के अभाव से भूखे रहने पर, दूसरों को भी भूखा रखने की चेष्टा करना ईर्ष्या का लक्ष्य होता है। जहाँ गुण है, वहाँ ईर्ष्या टिक नहीं सकती। जो व्यक्ति जिस गुण का अधिकारी है, उसमें उस गुण की शोभा होती है और समाज के किसी भी व्यक्ति को इससे असन्तोष नहीं होता। ऋण के परिशोध में किसी महाजन को दिए गए रुपए के प्रति किसी के मन में वैसा अन्यथा भाव उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसा कि उसी रुपए को हम किसी अन्य व्यक्ति को बिना किसी विशेषता के यों ही मुफ्त में दे दें। गुण हो या अवगुण, समाज के वातावरण से अलग रह कर कोई भी मनुष्य, उसके विकास की बात कौन कहे, उसकी सत्ता को भी प्रमाणित नहीं कर सकता। आध्यात्मिक संस्कारों के योग से जीवन में जो एक सजीवता लक्षित होती है, वह जीवन के बीच ही रहकर सम्भव है, अन्यत्र नहीं।

जीवन के विकास के लिये जीवन का आधार

काव्य में किसी पात्र के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से केवल उसी पात्र की सत्ता पर्याप्त नहीं समझी जा सकती उस पात्र के जीवन की विशेषता दिखा के लिये एक छोटे-मोटे समाज का आध लेना पड़ता है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामच का चरित्र-चित्रण रामायण का परम उद्देश्य है, किन्तु क्या र

सीता, लक्ष्मण, कैकेयी, भरत, शबरी, हनुमान, सुग्रीव, रावण आदि के बिना पूर्ण कहा जा सकता है ! शकुन्तला के आरम्भिक जीवन का चित्र उपस्थित करने के लिये कालिदास ने गौतमी, प्रियम्वदा तथा अनुसूया का अस्तित्व आवश्यक समझा। जीवन का चित्रण जीवन के संसर्ग में ही हो सकता है। जहाँ जीवन को व्यक्त करने के लिये जीवन का आधार नहीं मिलता, वहाँ भी हम अतीत जीवन के संस्मरणों के सहारे आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। मेघदूत के विरही यक्ष का जीवन इस प्रकार का एक अच्छा उदाहरण हो सकता है। अलकापुरी में रहकर उसने जिस प्रकार का विलासपूर्ण जीवन व्यतीत किया था, उसके संस्मरण ने इस निर्वासन में उसके जीवन में एक नयी स्फूर्ति का मार्ग बना दिया, यह सत्य मानना पड़ेगा। उसकी कल्पना में विरहिणी यक्षिणी का म्लान मुख सदा विराजमान रहा। आषाढ़ के प्रथम मेघ को देखकर पिछले संस्कारों के वशीभूत हो उसने निर्जीव मेघ को भी जीवन्त-सा मान लिया। रामगिरि के जन-शून्य वातावरण में विरही यक्ष ने एक ऐसे अवलम्ब को चुन लिया, जिसके उपलक्ष्य से उसके सारे मनोविकार अभिव्यक्त हो सके।

मनुष्य का जीवन सदा अपूर्ण रहता आया है; किन्तु वह पूर्णता पर पहुँचने की चेष्टा भी बराबर करता रहा है। जीवन का प्रत्येक क्षण अपनी पूर्णता को प्राप्त करने में ही व्यतीत होता है। यह सत्य है कि यदि हम अपने जीवन के विकास-क्रम के मूल का पता लगावें, तो हमें मालूम होगा कि अपने जीवन में हमें जो-कुछ

समाज और जीवन

विशेषता दिखायी पड़ रही है, वह समाज की देन है[1]। जीवन में मृत्यु को पाकर ही विकास का क्रम रुकता है, अन्यथा वह किसी-न-किसी रूपसे विकास के पथ पर चलने की चेष्टा करता ही रहता है। जब जीवन का भविष्य अन्धकारपूर्ण मालूम पड़ने लगता, तब जीवन अपने आलोकमय अतीत की याद कर ही अपनी सत्ता को जीवित तथा सुरक्षित रखता है। मनुष्य-जीवन जिस काल में रहेगा, जिस स्थिति में रहेगा, वह अपनी सत्ता जीवन्त रखने की चेष्टा करेगा। जीवन में स्थिरता नहीं रहती। जब कभी आगे का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, तब भी वह निश्चेष्ट हो कर चुपचाप बैठ नहीं रहता। आँखें आगे रखकर वह पीछे चलने लगता है; क्योंकि जब तक जीवन में कोई गति नहीं रहेगी, तब तक उसकी यह संज्ञा भी नहीं मानी जा सकती।

हर्ष तथा विषाद पर काल का प्रभाव

जीवन में हमें अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने पर हर्ष और पराजय पर विषाद होता है। विजय-पराजय जीवन में हर्ष-विषाद का एक सामान्य विषय रहता आया है। कभी-कभी ऐसा होता है कि अपनी पिछली विजय का स्मरण जीवन की वर्त्तमान स्थिति को सुखद बनाता है। पराजय के सम्बन्ध में भी हमारी मानसिक चेतना एक दूसरे ही रूप में जाग्रत होती है। अपने बहुत पिछले काल के पराजय की भी, जिसका अनुसारी-परिणाम हमारे वर्त्तमान पर कोई आघात नहीं कर रहा है, याद कर हम विषण्ण नहीं होते, एक प्रकार से निरपेक्ष

१. Prof. Baldwin : Social and Ethical Interpretation in Mental Development, P. 11.

रह जाते हैं। इस निरपेक्षता का कारण, पराजय के बाद उतने काल पर हमारे जीवन की सत्ता की विजय है। अपने किसी प्रिय का उत्कट शोक भी कुछ दिनों के बाद अपनी गुरुता को छोड़ देता है। काल पर विजय प्राप्त कर ही हृदय अपने भावों की प्रचण्डता को शांत रखने में समर्थ होता है।

पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर कुछ लोग काव्य को जीवन की व्याख्या मानते आए हैं। वस्तुतः काव्य जीवन की व्याख्या हो या अनुवाद, हमें यहाँ इससे कुछ विशेष तात्पर्य नहीं। काव्य में जो जीवन चित्रित किया जाता है, वह किस रूप में, इसी पर यहाँ विचार करना है। प्राकृत जीवन की सत्ता काव्य में एक प्रभाव के रूप में प्रकट होती है। जगत् में जो जीवन है, काव्य में भी वही जीवन नहीं रहता, बल्कि उसका प्रभाव-मात्र रहता है। जिस जीवन में प्रभाव की जितनी क्षमता रहती है, काव्य में उसे वैसा ही स्थान प्राप्त होता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का 'फोटो' उसके आलोक और छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसी प्रकार काव्य का जीवन भी उसकी सत्ता के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं। यदि काव्य में हम जीवन की सत्ता को प्रभाव के रूप में व्यक्त करने की बात न मानें, तो व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग, शिख-नख-वर्णन से ही काव्य में जीवन का विधान मान लेना पड़ेगा। वह व्यक्ति लंबा था, उसकी आँखें बड़ी-बड़ी, नाक पतली और ऊँची उठी हुई, मूँछें घनी और तीर की तरह नुकीली आदि कहने से उसके मुख या शरीर के स्वरूप का ही बोध होता है, किन्तु उसके व्यक्तित्व या जीवन के लिए इतना या इसी प्रकार

काव्य में प्रभाव के रूप में जीवन

बहुत कहने पर भी काव्य का तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। शारीरिक वर्णन के साथ-साथ या बाद जब हम यह कहने को बाध्य होते हैं कि वह व्यक्ति बहुत सुन्दर या खराब है, उदार या कृपण है, सदाचारी या दुराचारी है, तब हमारे चित्त पर उसकी सत्ता का प्रभाव ही समझना चाहिए। कवि या लेखक के हृदय में किसी व्यक्ति का शरीर प्रविष्ट नहीं हो सकता और जब तक हृदय के साथ उसका संबंध न हो, तबतक काव्य में उसका विधान संभव नहीं। यही कारण है कि किसी के आत्मभाव की सत्ता के प्रभाव को ही कलाकार अपने हृदय में लेता है और अपनी आध्यात्मिक शक्ति का योग देकर काव्य में उसका मार्मिक विधान करता है।

प्रभाव और उसका विश्लेषणात्मक कारण

काव्य में प्रभाव के रूप में जीवन के विधान की बात ऊपर कही जा चुकी है। अब इस पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार करना है। जीवन की किसी घटना से वास्तविक हो वा काल्पनिक, यदि हमें किसी को प्रभावित करना होता है, तो प्रमाण से पुष्टकर उसका वर्णन करना पड़ता है। कोई सदाचारी या दुराचारी है, इतना कह देने से ही किसी के चित्त पर अभीष्ट प्रभाव नहीं पड़ सकता। काव्य का अभिप्राय तो इससे तनिक भी सिद्ध नहीं होता। जीवन में प्रभाव की जो मूल क्रियाएँ हैं, उन सबके विश्लेषण से ही काव्य में उसका वास्तविक विधान होता है। कोई सदाचारी है, तो किन सुकर्मों से; कोई दुराचारी है, तो किन पापों से? कलाकार ने किसी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो धारणा बना रखी है, उसका प्रमाण पाठक और श्रोता को देना पड़ेगा

उसके औचित्य को सिद्ध करना होगा। पाठक का भी अपना भाव है, अपना विवेक-विचार है, अपनी धारणा-शक्ति है। दूसरे द्वारा संचित प्रभाव से ही उसके जीवन के सारे काम नहीं चल सकते। काव्य में कर्मों के उल्लिखित होने का प्रयोजन उसके उस वातावरण से है, जिसके बीच रहकर वह पला है। जीवन के बीच रहकर जीवन को देखने से उसका कोई अंग छूटने नहीं पाता। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, बाहर-भीतर, अगल-बगल सब दृष्टिगत हो जाते हैं[१]। किसी तालाब में खिले हुए कमल के सौन्दर्य को बताने के लिये केवल सुन्दर कह देने से ही काम नहीं चलता, वरन् उस कमल के आस-पास, उसके पत्तों, भौंरों, शैवाल-जाल, जल की हल्की लहरों आदि का बिम्ब-ग्रहण कराना आवश्यक हो जाता है। अपने वातावरण के बीच रहकर ही मनुष्य के जीवन की यथार्थ स्थिति का पता चलता है। मानव-समाज ही जीवन का वातावरण है। जीवन के तत्त्वों के विकास में समाज का बड़ा भारी ऋण है। मनुष्य केवल अपने विषय में ही नहीं सोचता, वह दूसरों के लिए भी सोचता है, वह दूसरों के भावों से ही लाभ उठाता है। दूसरों ने जो देखा है, जो सुना है, जो अनुभव किया है, उन सब के आधार पर जीवन का विकास होता है। यदि ऐसी बात नहीं रहती, तो प्रत्येक मनुष्य को आदिम युग से ही अपने जीवन का आरम्भ करना पड़ता और अबतक बुद्धि, विज्ञान, कला के योग से जिस सभ्यता का विकास हुआ है, उससे वह कोई लाभ नहीं

---

१. Prof. Baldwin: Social and Ethical Interpretations in Mental Development. P. II.

काव्य में भिन्न-भिन्न पात्रों की भिन्न प्रकृतियों की सूक्ष्मता दिखलाने के लिए जिन तत्त्वों का विधान होता है, वे कवि की प्रकृति के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य रखते हैं। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें मनुष्य चरितार्थ तो नहीं कर सकता, परन्तु सोच सकता है। इस तरह बहुत-सी बातें ऐसी भी होती हैं, जिन्हें मनुष्य परिस्थितिवश कर तो लेता है, किन्तु इसके पहले उसके हृदय में कर्म की प्रेरणा के रूप में उन भावों का स्पष्ट उदय नहीं हुआ करता। रास्ता चलते हुए अचानक साँप को आगे देख, हम उछल तो पड़ते हैं, किन्तु साँप से बचने के लिये उछल कर आगे बढ़ने की बात, साँप को देखने के पहले, हमारे मन में नहीं रहती। मनुष्य का जीवन जिस रूप का है, उसी रूप में वह काव्य में प्रतिबिम्बित नहीं होता। काव्य में आने के पहले जीवन की बहुत-सी बातें छोड़ दी जाती हैं और ऐसी बहुत-सी बातें भी ली जाती हैं, जिनका अस्तित्व केवल कल्पना-जगत् में ही पाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि काव्य में जीवन का विधान करते समय हम सामाजिक जीवन में अपनी स्थिति का भी विचार करते हैं।

जीवन में भाव-विधान और काव्य-प्रकृति

ईश्वर की सृष्टि में जो कुछ है, उसमें मनुष्य सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न है। शक्ति से तात्पर्य यहाँ भाव तथा लौकिक सृष्टि-विधान की प्रतिभा से है। यदि वन के किसी कोने में एक फूल खिलता है, तो उसके लिए किसी के हृदय में आदर-भाव की कोई विशेष सम्भावना नहीं रहती ; क्योंकि ईश्वर की शक्ति को प्रमाणित करने के लिए

लोक-जीवन और काव्य-प्रकृति

उस फूल को प्रमाण के रूप में दिखलाना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। छोटे-छोटे बच्चे जब गलियों में, सड़कों या नदी की रेतों पर छोटे-छोटे घरौंदे बनाते हैं, तब उन्हें अपनी शक्ति पर, सृष्टि करने की छोटी-सी क्षमता पर गर्व होता है। वे बड़े अनुराग से घरौंदे बनाते और उनसे अपने गर्व का आनन्द पाते हैं। गर्व कर्म का ऋण है। ईश्वर की सृष्टि की तरह काव्य में जब काव्य-कार पात्रों का निर्माण करता है, तब उसे अपने इस कर्म के प्रति बड़ा अनुराग होता है। काव्यगत पात्रों के जीवन वस्तुतः लोक-जीवन के अनुरूप ही होते हैं। इसी कारण लोक-जीवन की प्रकृति काव्य की प्रकृति का स्थान लेती है।

जीवन की परम्परा और काव्य

प्रत्येक बात के लिए मनुष्य अपने विवेक से उत्पन्न विचार प्रकट नहीं करता। संस्कार या परम्परा से प्राप्त विचारों में ही अपनी बातें मिला देता है। सब में यह शक्ति नहीं रहती, सब को सब वस्तुओं के निरीक्षण और परीक्षण का ज्ञान और अवकाश भी नहीं रहता। इन्हीं कारणों से मन में पहले से जो धारणा बनी हुई रहती है, उसी के आधार पर मनुष्य अपना विचार प्रकट कर देता है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के विचार मौलिक नहीं होते, बल्कि परम्परा से आयी हुई धारणा में योग देनेवाले होते हैं। मानव-जीवन की यह विशेषता काव्य में प्रयुक्त धारणाओं की सामान्यता को प्रतिपादित करती है। परम्परा की यह रूढ़ि आधुनिक जीवन को भूत जीवन से पृथक् न होने देने में सहायता करती है। इसी से काव्यगत जीवन में भूत और वर्त्तमान का कोई विच्छेद नहीं मालूम पड़ता।

जीवन का विकास और अतीत वर्त्तमान का सम्बन्ध

जीवन के विकास में मूल भावों का व्यतिक्रम नहीं होता। साधारणतः प्रवृत्ति के बहुत दिनों तक एक ही दिशा में चलने को विकास कहते हैं। प्रवाह की इसी दिशा को रोकने या बदलने से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। कुछ तत्त्ववेत्ता विकास को रूढ़िग्रस्त मानते हैं, क्योंकि बहुत दिनों तक एक ही दिशा में, एक ही तरह की शक्ति के विकसित होने से, उसमें कुछ रूढ़ि-प्रियता आ जाती है। ऐसी स्थिति में उसकी प्रतिक्रिया के लिए कहीं विरोध और कहीं विद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इस अर्थ में हमारे बहुत से कलाकार भावों के परम्परागत विकास के विद्रोही कहलाते हैं। जीवन के किसी भी क्षेत्र को वे बहुत दिनों तक एक रस और एक रूप देखना पसन्द नहीं करते। जिन कलाकारों में आती हुई विकास-परम्परा के विरोध करने का स्पष्ट साहस नहीं होता, वे अपनी विरोधमयी सत्ता को अपने पात्रों की ओट में प्रकट कर देते हैं। काव्य के विधान में इस बात पर सदा ध्यान रखना पड़ेगा, कि वह अतीत से असम्बद्ध न रहे। जिस काव्य में किसी-न-किसी रूप से अतीत प्रतिध्वनित नहीं होता, वह भविष्य के निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता। वर्त्तमान को अतीत ही सञ्जीवित रखता है। अतीत से वर्त्तमान का विच्छेद उसी दिन सम्भव है, जिस दिन सृष्टि में मानव-जीवन की इस परम्परा का अन्त हो जाय और तब स्थायी साहित्य का कोई मूल्य भी नहीं रह जाता। यदि हम अपने वर्त्तमान जीवन की परम्परा के मूल सूत्र का अनुसन्धान करें, तो हमें न मालूम कितने लाख वर्ष पीछे जाना पड़ेगा। काव्य भी अपनी वत्तमान जीवन-शक्ति

को सुदूर अतीत से ढोता आ रहा है। काव्य पर अतीत का यह प्रतिबन्ध उसमें गम्भीरता और मर्यादा रखने में समर्थ होता है। जिस काव्य के साथ यह प्रतिबन्ध नहीं लगा रहता, वह हल्का होकर तेजी के साथ वर्त्तमान को छोड़कर भविष्य में पहुँचने की चेष्टा करता है। सामान्य लोक-जीवन कलाकार की इस गति के साथ आगे नहीं बढ़ सकता। जो काव्य सामान्य लोक-जीवन को अपने साथ लेकर आगे नहीं बढ़ सकता, उसका कुछ उपयोग और तात्पर्य भी समाज में नहीं रहता। किन्तु, इसकी भी एक सीमा है। काव्य की धारा जब बहुत दिनों तक एक ही दिशा में एक ही गति से चलती रहती है, तब उसमें इतनी रूढ़ि-प्रियता आ जाती है, कि हमें उसमें केवल निर्जीविता ही मालूम पड़ती है। जीवन के तत्त्व सामान्य से ही मालूम पड़ते हैं। जीवन के सामान्य तत्त्व में भी देश, काल और जाति के अनुसार कुछ विविधताएँ आ जाती हैं। इतनी विविधताएँ रहने पर भी उस तत्त्व का मूल तो जीवन का सत्य ही रहता है, परन्तु वह मूल भूमि की भिन्नता के कारण अपनी विशेषता प्रकट करता है। भारतीय काव्य में सार्वभौम जीवन का संश्लेषण, कर्त्तव्य और धर्म; ग्रीक आदर्श में स्वातन्त्र्य और सौन्दर्य; रोमन में नियम और शासन; पारसी में व्यक्तित्व और माधुर्य की प्रधानता मानी जाती है।

जगत में जहाँ जीवन है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में नैतिकता को आश्रय देना ही पड़ता है। जीवन की नैतिकता का यह सम्बन्ध काव्य में भी दिखाई पड़ता है, परन्तु कोई भी काव्य केवल अपने नैतिक आदर्श की महानता के कारण ही महत् नहीं हो जाता।

जीवन की क्रियाएँ उसमें प्रधान हैं। जहाँ एक ओर जीवन की कमजोरियाँ रहती हैं, वहाँ दूसरी ओर शक्तिशालीनता भी। इसी अशक्ति और शक्ति के द्वन्द्व से जीवन का विधान किया जाता है। हास्य और रुदन—जीवन के दो प्रधान व्यापार, शक्ति तथा अशक्ति से ही सम्बन्ध रखते हैं। अपने को पूर्ण समझकर या दूसरों को अपने से हीन जानकर बुद्धि के दर्प से मनुष्य हँसता है। जब मनुष्य अपने को शक्तिहीन पाकर निरुपाय समझता है, तब वह रोता है। हँसने और रोने के जो विविध रूपान्तर हैं, उनसे जीवन की क्रियाएँ भिन्न नहीं हैं। जीवन और काव्य की एकात्मता के समय यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि विधायक कल्पना जीवन की वास्तविकता को काव्यगत सत्य के साथ मिलाती है, जिससे जीवन की सत्ता काव्य से भिन्न न दिखाई पड़े। काव्य की प्रकृति का विधान करनेवाली जीवन की विविधता—पूर्ण एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जीवन और काव्य

तीसरा अध्याय

आत्मभाव और काव्य-विधान

आत्मभाव या व्यक्तित्व पर सूक्ष्म विचार करने के उपरान्त यह पता चलता है कि निस्सन्देह यह एक अन्विति है, एक अपूर्व तथा स्पष्ट वैशिष्ट्य है। केवल अपने गुण के द्वारा ही वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न किया जा सकता है। सम्भवतः व्यक्तित्व के गुण की इन्हीं धारणाओं को मन में रखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अन्विति के तथ्य को ही कला का सच्चा सिद्धान्त माना है। यदि गुण अनावश्यक रहते, तो आत्मरूप ईश्वर इस अनंत गुण को, जिनसे प्रकृति बनी है, नहीं धारण करते[1]।

आत्मभाव—एक अन्विति

रवि बाबू आत्मभाव की अभिव्यक्ति ही कला का मुख्य उद्देश्य समझते हैं।

---

1. गुणव्यक्तिरियं देवी निर्गुणः पुरुषः पराः।

नाम रूपे भगवती प्रत्ययः पुरुषः पुमान्—महाभारत

गुण की व्यक्ति प्रकृति है और गुण की अव्यक्ति पुरुष। नाम और रूप प्रकृति है। अनादि, अनंत, शुद्ध और सरल पुरुष-परमात्मा है।

वस्तुतः सौन्दर्य एक साधन है, उसका मुख्य उद्देश्य नहीं। कला का मुख्य सिद्धान्त अन्विति (Unity) का सिद्धान्त है।

आत्मभाव की अभिव्यक्ति—कला

अपने भोजन के तात्त्विक मूल्य को हम उसके संयोजक तत्त्वों से जान लेते हैं, किन्तु उसका स्वाद तत्त्वों की उस अन्विति में है, जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। जहाँ बहिर्जगत् के साथ हमारे हृदय के सम्बन्धमें भावाधिक्य रहता है, वहाँ कला की सृष्टि होती है। जहाँ हमारा व्यक्तित्व अपने वैभव का अनुभव करता है, वहाँ क्रीड़ा के रूप में कला व्यक्त हो जाती है। कला का कार्य मनुष्य के सच्चे संसार के निर्माण में है, जो सत्य और सौन्दर्य का जीवित रूप है[१]।

टॉलस्टाय ने 'कला क्या है' नामक अपनी पुस्तक में अपने पूर्ववर्ती सभी कला-सम्बन्धी मत-मतान्तरों की समीक्षा करते हुए,

टॉलस्टाय का कला-सम्बन्धी मत

अपना मत प्रतिपादित किया है। उनके विचार से कला का उद्देश्य एक मनुष्य के हृदय में उठे हुए भावों को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द के द्वारा दूसरे हृदयमें अनुभव करना-कराना है। टॉलस्टाय का यह मत भारतीय साहित्य की रस-पद्धति से बहुत भिन्न नहीं है। उन्होंने कला की परिभाषा में विधि और निषेध—दोनों—का

---

१. Where there is an element of the superflous in our heart's relationship with the world art has its birth......... Where our personality feels its wealth it breaks out in display........ The building of men's true world—the living world of truth and beauty—is the function of art;

—Rabindranath Tagore; Personality.

वर्णन करते हुए अपनी स्थिति को बहुत ही स्पष्ट रखने की चेष्टा की है। उन्होंने फिर कहा है कि कला, जैसा कि अध्यात्मवादी कहते हैं, ईश्वर या सौन्दर्य के किसी रहस्य के भाव का प्रदर्शन नहीं। वह जीवन-सौन्दर्य, तत्त्व-वेत्ता जैसा कहते हैं, अपने सञ्चित ओज के आधिक्य का उपभोग करानेवाली क्रीड़ा नहीं है। वह वाह्य चिह्नों के द्वारा मनुष्य की भावुक अभिव्यक्ति नहीं है। वह आनन्ददायक वस्तुओं की सृष्टि नहीं है और सब के उपरान्त वह आनन्द नहीं है, वल्कि मनुष्यों को एक ही भाव में परस्पर मिलाने का एक साधन है और व्यक्ति तथा मानव की जीवन-विकास-हित-कामना की दृष्टि से अनिवार्य है[१]।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से यदि टॉलस्टाय के मत की समीक्षा की जाय, तो उनकी सभी निषेधात्मक वातें कला के उद्देश्य के अनुकूल मानी जा सकती हैं। अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा-

---

१. To evoke in ourself a feeling one has once experienced, and having looked it in oneself, then, by means of movements, line, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that feeling that is the activity of art.

—Tolstoy: What is art ? p. 50

१. Art is not, as the metaphysicians say, the manifestation of some mysterious Idea of Beauty, or God; it is not, as the acthetical physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored up energy, it is not the expression of man's emotions by external sings; it is not the productions of pleasing objects; and above all, it is not pleasures but it is a means of union among men; joining them together in the same feelings, and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and of humanity.

—Tolstoy: What is art ? p. 50,

नुभूति ही इस जगत् की सारी क्रियाओं का लक्ष्य है। टॉलस्टाय ने अपनी परिभाषा में जो हित-कामना शब्द का उल्लेख किया है,

समीक्षा

वह आत्मानुभूति के अतिरिक्त किसी दूसरे क्षेत्र में स्पष्ट नहीं हो सकता। कला की यह परिभाषा इतनी अधिक अतिव्याप्ति-पूर्ण है कि विधि और निषेध की सीमा के भीतर गढ़े जाने पर भी वह असीम हो गई है। हित-कामना की दृष्टि से मनुष्यों के पारस्परिक मिलन को कला कहना स्पष्ट नहीं है। जीवन में ऐसी बहुत-सी घटनाएँ, ऐसी बहुत-सी परिस्थितियाँ आती हैं, जब मनुष्य पारस्परिक संरक्षण के विचार से सम्मिलित हो जाते हैं, किन्तु क्या इसे कोई कला का कार्य या उद्देश्य बता सकता है! कलाकार के प्रत्यक्ष अनुभव के उपरान्त गौण रूप से दूसरे हृदयों में भाव की जागृति या सञ्चारण कला का विषय हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव की स्थिति में भाव-सञ्चारण करने से कला नहीं मानी जा सकती। जहाँ कलाकार को मूलभाव की उपस्थिति में औरों की तरह ही रोने और हँसने को बाध्य होना पड़े, तो वहाँ कला नहीं मानी जा सकती। टॉलस्टाय ने इस दृष्टि से भी कला पर विचार किया है और उदाहरण में भेड़िया-भेड़िया कहकर चिल्लानेवाले उस लड़के का उल्लेख किया है, जो झूठ-मूठ 'भेड़िया आया—भेड़िया आया' कहकर चिल्लाता था, आस-पास के लोग अपने-अपने काम-धंधे छोड़कर उसकी रक्षा के लिए ही दौड़ पड़ते थे और सब के आने पर वह ठठाकर हँस देता था। इस उदाहरण पर कला के विषय को निश्चित करने के लिए तीन प्रकार से विचार करना आवश्यक मालूम पड़ता है। पहला त वह है, जब वह लड़का, बिना भेड़िये को देखे हुए ही ठगने के

विचार से लोगों को भेड़िया-भेड़िया चिल्लाकर बुला लेता है। दूसरा वह है, जब उस लड़के के सामने वस्तुतः भेड़िया आ जाता है और तब वह भेड़िया-भेड़िया चिल्लाता है। तीसरा वह है, जब वह लड़का, यदि जीवित रहा, तो लोगों के सामने भेड़िये के आने पर अपने हृदय के भय के बीते हुए अनुभव का वर्णन करता है। लोग उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं। यदि सच पूछा जाय, तो यही तीसरा प्रकार कला का विषय है; क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष अनुभव के उपरान्त उसी भाव को हृदयंगम कराने के विचार से, उन सारी स्थितियों का वर्णन किया गया है, जो दूसरे हृदयों तक पहुँच सकें। इसमें सम्मिलित जीवन-रक्षा के लिए हित-कामना की कोई बात नहीं है, केवल अपने हृदय के प्रत्यक्ष और अनुभूत भाव को दूसरे हृदयों तक पहुँचाकर रस-मग्न करने के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। यदि हित-कामना के विचार से भेड़िये से बचने का उपाय बताया जाता, तो वह भाव का विषय न होकर, ज्ञान का विषय होता और तब कला को स्थिर रखने के लिए वहाँ स्थान नहीं मिलता।

साधारणतः कलाकारों के दो विभाग माने जा सकते हैं। पहले प्रकार के कलाकार, जो बहुत कम होते हैं, वे हैं, जो अपने समस्त आत्मभाव को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पात्रों के जीवन का आधार बनाते हैं, अपने आत्मभाव की सारी विशेषताओं को इस रूप से समर्पित कर देते हैं कि उनके पात्र अलग-अलग व्यक्तित्व रखनेवाले जीवधारी-से प्रतीत होते हैं। दूसरे ढंग के कलाकार वे होते हैं, जो सृष्टि करते हैं, उनमें सामञ्जस्य भी रखते

कलाकारों के भेद और काव्य में निरूपित भाव

हैं, प्रेम, हास, द्वेष, घृणा, विषाद आदि मनोविकारों से पाठकों को स्पंदित भी करते हैं, किंतु उनके पात्रों का कोई मौलिक आधार न रहने के कारण कभी-कभी वे विचित्र जन्तु की तरह ही मालूम पड़ते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों का अपने आत्मभाव के आधार पर ही निर्माण करना एक असङ्गत-सी बात मालूम पड़ती है, परन्तु यह एक काव्यगत सत्य है। कलाकार के हृदय की भावना जब किसी चरित्र का निर्माण करने लगती है, तब वह एक विचार के रूप में स्थिर हो जाती है। बुरे-से बुरा भाव भी जो कवि अपने काव्य में किसी पात्र के द्वारा अभिव्यक्त करता है, वह भाव की संज्ञा को छोड़कर विचार की श्रेणी में आ जाता है। भाव की उत्पत्ति की युक्तियुक्तता के लिए उतना आग्रह अपेक्षित नहीं होता, जितना विचार के लिए। युक्ति-क्षमता के विना विचार को कोई आधार नहीं मिल सकता। भाव ही जब चित्त में स्थायित्व पाता है, तब विचार बन जाता है। भाव को स्थिर रहने के लिये कोई कारण होना चाहिये और यही कारण विचार की सङ्गति रखता है। इसीलिए कलाकार का कोई पात्र, विचार के रूप में होने के कारण, अपनी स्थिति के लिए न्याय चाहता है। क्रोध एक भाव है, किंतु जब यही भाव चित्त में कुछ दिनों तक स्थिर रह जाता है, तब वैर की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

अपने पात्र को जीवन्त-सा बनाने के लिए कलाकार को अपनी सारी प्रतिभा और शक्ति का योग देना पड़ता है। दर्शक की तरह तमाशा देखने के लिए अपने पात्रों की ओट में वह खड़ा नहीं रहता। पाठकों को वह ऐसा विश्वास दिला देता है कि अपनी कृतियों से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं। काव्य में किसी

आत्मभाव की प्रतिष्ठा और जीवन की स्थिति

पागल, प्रेमी, डाकू, शराबी, अत्याचारी आदि के चित्रण के लिए यह आवश्यक नहीं कि कलाकार को भी वैसे जीवन तथा परिस्थितियों का मौलिक ज्ञान या साक्षात्कार रहा हो। रस की प्रतीति के सम्बन्ध में सत्त्वोद्रेक का जो महत्त्व है, वही भिन्न-भिन्न प्रकार के चरित्रों में अपने आत्मभाव को प्रतिष्ठित करने की बात कही जा सकती है। उन्मत्त क्रोधी रौद्र रस की प्रतीति नहीं करता। एक शराबी किसी शराबी पात्र का चित्रण नहीं कर सकता। यदि यह मान लिया जाय, कि किसी शराबी पात्र के चित्रण करने के लिए कलाकार को भी उस जीवन के मौलिक अनुभव के लिए शराबी बनना पड़े, तो साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि पाठक या श्रोता को भी रसानुभूति के लिए शराबी बनना चाहिए; किन्तु ऐसी बात इसलिए नहीं मानी जा सकती, कि काव्य की रस-पद्धति इसके अनुकूल नहीं। पात्रों को सजीव बनाने के लिए जब तक कलाकार अपना जीवन, अपना आत्मभाव समर्पित नहीं करता, तब तक उसके पात्र जीवित नहीं दिखाई पड़ सकते। जीवन के बिना सौन्दर्य की सत्ता भी अच्छी तरह प्रकट नहीं हो सकती। गोस्वामी तुलसीदास ने रावण-जैसे भीषण और दुर्दान्त चरित्र की अवतारणा करने में यदि अपना आत्मभाव समर्पित न किया होता, तो रावण के चरित्र से पाठक कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते। काव्य में कलाकार अपने आत्मभाव को स्रष्टा के अनुरूप ही रखता है। सृष्टि में ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है, वही काव्य में कवि की रहती है। सृष्टि के अणु-परमाणु में ब्रह्म व्याप्त है, परन्तु वह लक्षित कहीं

भी नहीं होता। काव्य के वर्ण-वर्ण में कवि का आत्मभाव परिव्याप्त रहता है, किन्तु वह स्पष्ट कहीं भी लक्षित नहीं होता।

आत्मभाव की अनेकता

एक ही कलाकार जब नाटक, उपन्यास, कहानी आदि लिखता है, तब प्रत्येक विषय में हम उसके दूसरे विषय के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक दूसरे विषय के साथ कलाकार अपने जीवन की मूलशक्ति का दिशा-निर्देश कर लेता है, किन्तु इस प्रकार के दिशा-निर्देश में कलाकार को अपनी शक्ति की मर्यादा पर इतना ध्यान रखना पड़ता है कि किस ओर वह कितना सफल हो सकता है। यह निश्चित नहीं है कि कोई अच्छा नाटककार अच्छा औपन्यासिक भी बन सके, यह बहुत-कुछ शक्ति की विविधता पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष जीवन में भी हम देखते हैं कि कोई वकील जो अपनी कला में पूरा प्रवीण माना जाता है, अपनी सारी विकसित शक्तियों के साथ भी एक साधारण इञ्जीनियर का काम नहीं कर सकता। शक्ति स्थिर है, किन्तु उसको भिन्न-भिन्न दिशाओं की गति का ज्ञान नहीं।

शक्ति और ज्ञान

सच्चे कलाकारों से हम शक्ति-ग्रहण करते हैं—ज्ञान प्राप्त नहीं। हमारे हृदय में शक्ति के अविकसित अङ्कुर छिपे रहते हैं, उन्हें विकसित कर प्रकाश में लाना सच्चे कलाकार का काम है। शक्ति का विकास होने पर हमारे जीवन का स्तर ऊँचा उठता रहता है और ज्ञान की प्राप्ति पर हम उसी समतल पर आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार काव्य की शक्ति हमें ऊँचा उठाती है और ज्ञान हमें आगे बढ़ाता है। जीवन की सारी सम्वेदनाओं को हिलाकर शक्तियों का विकास करनेवाली

काव्य-कला का स्थान उस ज्ञान-ग्रन्थ से कहीं ऊँचा है, जो हमारे मस्तिष्क में केवल संख्या-वृद्धि करता है। कवि की शक्ति जिस सीमा तक विकसित है, उससे अधिक ऊपर उठना भी पाठक या श्रोता के लिये सम्भव है, जब उसके पास शक्ति की पूँजी हो। शक्ति-साहित्य का विकास मानव-जीवन के आदिकाल से आरम्भ होकर अब तक जितना हो गया है, वह इतना पर्याप्त है कि उसमें जीवन की विविधताओं का चित्रण तो किया जा सकता है, पर सीमा को हम तोड़कर सहसा ऊपर नहीं उठ सकते। जीवन में प्रतिपल संक्रान्ति होती रहती है और काव्य में इस संक्रान्ति का प्रत्येक स्पन्दन अङ्कित होता जाता है, किन्तु कलाकार को स्पन्दन की इस नियमितता से सन्तोष नहीं होता। वह जीवन-धारा में ऐसी बाढ़ लाना चाहता है, जिससे अधिकतर जीवन-प्लावन हो सके। यदि विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि काव्य का यह जीवन-प्लावन भी नियमित है। समय-समय पर नियम के बन्धन को ढीला करना भी नियम-पालन के अन्तर्गत ही माना जाता है। कलाकार को केवल इसी बात से हर्ष होता है कि वह मानव-जीवन को काव्य के नये क्षेत्र में देखता है। काव्य का यह क्षेत्र वास्तव में नया नहीं होता, पुराने मकान पर ही चूने की पुताई कर दी जाती है। मनुष्य का जो आत्मभाव है, वह जीवन की परम्परा से सर्वथा भिन्न नहीं हुआ करता और इसीलिये काव्य में जो आत्मभाव प्रतिष्ठित किया जाता है, वह परम्परा को लेकर ही चलता है। यदि वह परम्परा से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, तो वह समाज में एक अद्भुत जन्तु की तरह ही माना जायगा। काव्य के सम्बन्ध में भी यही बात ठीक कही जा सकती है।

प्राचीन और नवीन छन्द

यह कहना बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि पुराने छन्दों में नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नहीं किया जा सकता। छन्द कभी पुराना नहीं होता, नवीन उल्लास को भरते ही वह स्वतः नवीन हो जाता है। यदि छन्दों का पुराना और अनुपयुक्त हो जाना सम्भव है, तो पुरानी वर्ण-माला को भी हटाकर नयी वर्णमाला का निर्माण करना उचित है। किन्तु मनुष्य के उच्चारण की ध्वनियाँ इतनी निश्चित हैं कि इसका निराकरण नहीं हो सकता। एक ही प्रकार के मानव-शरीर में हम भिन्न-भिन्न आत्माएँ, तरह-तरह के जीवन देखते हैं। तब क्या यह सम्भव नहीं है कि एक ही प्रकार के छन्द में हम भिन्न-भिन्न उच्छ्वास—तरह-तरह की सम्वेदनाएँ देख सकें! यदि काव्य-रचना के नये कला-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो सबसे पहले इसी बात का उत्तर मिलना चाहिए कि कला के पुराने कहे जानेवाले आवरण में बँधे हुए कालिदास, भवभूति, वाणभट्ट, तुलसी, सूर या बिहारी को हम क्या भूल सकते हैं? क्या नयी रचनाएँ हमें पुरानी रचनाओं के पढ़ने में विराग उत्पन्न करा सकती हैं? यदि नहीं, तो नये कला-विधान की आवश्यकता बहुत दूर तक प्रमाणित नहीं की जा सकती। आधुनिक जीवन का जो आत्मभाव है, वह यदि शक्ति-सम्पन्न है, तो काव्य के किसी भी आवरण में अपनी नवीनता अवश्य प्रति-पादित करेगा। संक्रान्ति में जीवन का एक नया उल्लास अवश्य रहता है, परन्तु इस नये उल्लास में इतनी क्षमता नहीं कि वह पुराने उल्लास पर कोई आवरण डाल सके। पिछला उल्लास भी तो मानव-जीवन का उल्लास है, पिछला विषाद भी तो मानव-

जीवन का ही विषाद है! जबतक मनुष्य-जीवन के समान तत्त्व वर्तमान हैं, तभीतक काव्य स्थिर है। यदि जीवन नया या पुराना नहीं होता, तो काव्य भी नया या पुराना नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक सभ्यता और काव्य-विधान का नवीन क्षेत्र

कुछ समालोचकों का कहना है कि वैज्ञानिक सभ्यता के नये आविष्कारों से मानव-हृदय में भी नये-नये भावों का विधान होता जा रहा है। इसीलिये नये-नये भावों को अभिव्यक्त करने के लिए नयी-नयी विधियाँ, नये-नये छन्द निर्मित होने चाहिएँ। ऊपर से यह बात कुछ जँचती-सी मालूम होती है, किन्तु मानव-हृदय पर जब हमारा ध्यान जाता है, तब हम यही समझकर सन्तोष कर लेते हैं कि मानव-हृदय वही चिरन्तन है, उसमें केवल अनुभव ही नया भरा गया है। यह सच है कि अनुभव के कारण ही हृदय की सत्ता मालूम पड़ती है, किन्तु अनुभव को ही हृदय मानना शास्त्रीय दृष्टि से युक्तियुक्त नहीं है। बड़े महल से गिरकर मरने के भय का अनुभव हमें पहले से ही है। पहाड़ की चोटी पर से लुढ़क कर गिरने के भय का अनुभव भी हमें पुराना ही है, किन्तु पैरासूट या हवाई जहाज से गिरकर मरने के भय का अनुभव आधुनिक सभ्यता का परिणाम है। वैज्ञानिक सभ्यता ने निस्सन्देह हमें जीवन में अनुभव के नये-नये क्षेत्र दिये हैं। लेकिन हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि अनुभव के क्षेत्र ही नये-नये हैं, हृदय हमारा वही है, भय भी हमारा वही है। अन्तर केवल इतना ही है कि चाहे पहाड़ की चोटी पर से गिरकर मरें या हवाई जहाज पर से। यदि भय, क्रोध, आश्चर्य, हास आदि से भिन्न हृदय की किसी स्थायी वृत्ति का आविष्कार होता, तो वस्तुतः

काव्य को एक ऐसा क्षेत्र मिलता, जो नया समझा जाता। भावों
में जो नवीनता दिखलाई जाती है, यथार्थ में वह नवीनता नहीं
है---आधुनिक जीवन की विविधता है। भाव के वृत्ति-चक्र में
जब कितनी ही भावनाएँ आकर जम जाती हैं, तभी हम उसे नवीन
कहते हैं, जो केवल विविध और जटिल हैं। काव्य में कलाकार
केवल अपने आत्मभाव को ही प्रतिष्ठित नहीं करता, वरन् वह
समस्त मानव-जीवन को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वह
अपने आश्चर्य, हास का वर्णन भी ठीक उसी तरह नहीं करता,
जिस तरह वह आश्चर्य और हास किया करता है। यदि वह
अपने आसपास के लोगों के आश्चर्य या हास करने के ढङ्ग की
समानता अपने में न देखे, तो वह स्वयं अद्भुत् हो जायगा। यही
कारण है कि कलाकार अपने अन्तर्जगत् को अथवा अपने आत्म-
भाव को भी कभी-कभी सच्चाई के साथ अपने काव्य में प्रतिष्ठित
नहीं कर सकता। वह अपने अन्तर्जगत् को भी वाह्यजगत् के
मूल्य पर काव्य को देता है। कभी-कभी कलाकार अपने आत्म-
भाव की प्रकृति की मर्यादा को दबाकर पाठक या श्रोता की प्रकृति
के स्तर पर पहुँच जाता है और उस समय अपने काव्य को
सर्वाधिक लोक-प्रिय वनाने की लालसा में अपनी मर्यादा भूल
जाता है। वाहर की माँग को पूरा करने के लिए अपने अन्तर
के उच्छ्वास पर प्रतिवन्ध लगा देता है। काव्य में यदि यह
व्यापार आरम्भ से ही नहीं चला आता, तो प्रत्येक कलाकार का
अपना व्यक्तिगत काव्य होता और वह काव्य इतना सङ्कीर्ण होता
कि जातीय जीवन का कोई चित्र उसमें लक्षित नहीं होता।

काव्य में जीवन शुद्ध जीवन के रूप में व्यक्त नहीं किया

काव्य और जीवन का तारतम्य

जाता। हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि वह काव्य में एक विचार के रूप में रखा जाता है, वस्तुतः वह एक तथ्य नहीं रहता, बल्कि तथ्य पर कलाकार का निजी विचार रहता है। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि कवि संसार को देखकर जीवन का अनुमान नहीं करता, वरन् जीवन के आधार पर ही संसार का अनुमान करता है। यदि उसमें उलटफेर हो, तो काव्य की आत्मा पर भी आघात पहुँचने की सम्भावना बनी रहती है। एक जीवन के ऊपर दूसरे जीवन का प्रभाव पड़ता है, और प्रभाव पड़ते ही उसमें परिवर्त्तन के लिए अवकाश मिल जाता है। किन्तु प्रभाव को हम सदा इसी रूप में नहीं देख सकते। किसी प्रकार के प्रभाव से कभी तो हम प्रभावित होते हैं और कभी हमारी स्थिति शील-द्रष्टा के रूप में बनी रहती है। संसार में जो घटनाएँ जिन रूपों में होती रहती हैं, उन सब का चित्रण काव्य में ठीक उन्हीं रूपों में नहीं होता, कवि के अन्तजगत् में, अविकल रूपों में वे घटनाएँ स्थान नहीं पातीं। अपनी रुचि और स्थिति के अनुसार उनमें वह जोड़-तोड़ करता है। इस प्रकार वे घटनाएँ कलाकार की अपनी सृष्टि कही जाती हैं। संसार में नित्य जो तरह-तरह की घटनाएँ घटती रहती हैं, उन समस्त घटनाओं के उद्देश्य को हम समझ नहीं पाते। यथार्थ में उनमें से कुछ उद्देश्यहीन भी होती हैं, यह सहसा नहीं कहा जा सकता। मानव-बुद्धि की अपारंगता उनके रहस्य को नहीं समझ सकती, किन्तु काव्य की समस्त घटनाओं के क्रम और उद्देश्य को हम समझ सकते हैं; क्योंकि वे मनुष्य—कवि—के अन्तर्जगत् की सृष्टि हैं। यदि अन्त-

जगत् की स्रष्ट घटनाओं के रहस्य का पता नहीं लगता, तो हम उन्हें मानने को वाध्य नहीं होते और इस प्रकार के काव्य-विधान से रस-पद्धति को आश्रय प्राप्त नहीं होता। मानवीय सृष्टि भी ईश्वरीय सृष्टि का एक अङ्ग है, इसी कारण अङ्गी का परोक्षभाव अङ्ग पर पड़ता है। यदि अङ्ग की स्वतन्त्र सत्ता मानी जा सके, तो अङ्गी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं मानना पड़ेगा, किन्तु यह विषय इतना रहस्य-पूर्ण तथा ज्ञान-सापेक्ष है कि सहज ही इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। जगत की घटनाएँ, ज्ञान-रूप होने के कारण, हमारे लिए सुगम नहीं हैं; किन्तु उन्हीं घटनाओं में से कुछ कट-छँटकर जब काव्य के क्षेत्र में आ जाती हैं, तब वे हमारे लिए ज्ञेय और सुगम हो जाती हैं। सम्भव है, उनमें से कुछ घटनाएँ साधारण जनता के ज्ञान-क्षेत्र से बाहर रहने के कारण, भाव-क्षेत्र में स्थान न पा सकें, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे मनुष्य की ज्ञान-परिधि के सर्वथा बाहर हैं। इसका निराकरण इसी से हो जाता है कि स्वयं कवि एक मानव है।

काव्य में हमारे जीवन का जो चित्रण किया जाता है, उसमें तथ्य या कल्पना की जितनी मात्रा रहती है, उसके लिए हम विशेष चिन्तित नहीं होते। हम इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं कि काव्य में वर्णित कोई घटना यदि तथ्य नहीं है, तो तथ्यवाद अवश्य है। तथ्य और तथ्यवाद का अन्तर सत्य और सत्य की कल्पना के बराबर मानना चाहिए। घटना का कोई व्यतिक्रम हमें वहीं खटकता है, जहाँ हमारे हृदय में विश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं रहती। हृदय के जिन उपकरणों से विश्वास-वृत्ति का विधान होता है, उन पर

विश्वास-वृत्ति और काव्य-विधान

यदि कोई आघात पहुँचे, तो हम उस वृत्ति से ही विमुख हो जाते हैं। भेड़िया-भेड़िया चिल्लाकर व्यर्थ ही लोगों को दौड़ानेवाले रूस के उस गड़ेरिये की कहानी बहुतों ने सुनी होगी। लेखक या कवि यदि विश्वास की प्रवृत्ति से प्रतिकूल होकर काव्य का विधान करे, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। जब तक काव्य की समस्त घटनाओं को सत्य मानकर हम नहीं चलते, तब-तक उसकी यथार्थता का भी आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। यदि कोई काव्यकार हमारी विश्वास-वृत्ति को चुनौती देकर किसी घटना का वैचित्र्य दिखाना चाहे, तो वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सकता। पाठक या श्रोता के विश्वास की सामान्य प्रवृत्ति पर ही वह काव्य-निर्माण में आगे बढ़ सकता है। इस प्रवृत्ति की अव-हेलना करनेवाली रचनाएँ काव्य में तिरस्कृत समझी जाती हैं। घटना काल में सीमित रहती है, पर उस घटना का सत्य असीम बन जाता है। महाकवि कालिदास, भारतवर्ष में, जिस समय पैदा हुए थे, यह उस समय की घटना है। किन्तु आज भी यह सत्य है कि कालिदास किसी समय भारतवर्ष में पैदा हुए थे। सत्य के ऐसे ही उपकरणों से काव्य का विधान किया जाता है। काव्य को पढ़ते समय हमारी स्थिति विश्वास करने, न करने या संशय की नहीं रहती। काव्य को पढ़ने या सुनने के पहले ही हम उस स्थिति के लिए तैयार हो जाते हैं, जिससे हमें काव्य का आनन्द प्राप्त हो सके। हमारी संशयात्मक प्रवृत्ति पर आनन्द की कल्पना का आवरण पड़ जाता है, और हम इस भौतिक संसार में रहकर भी इसे भूलकर भाव के विश्व में संचरण करने लगते हैं। छोटे-छोटे बच्चे जब गुड़ियों के साथ खेलते हैं, उनका विवाह कराते हैं,

उन्हें भोजन कराते हैं, तब यह समझ कर ही कि वे जीवित नहीं, गुड़ियाँ हैं। फिर भी उन्हें गुड़ियों के खेल में उतना ही आनन्द आता है। यदि कोई बच्चा किसी गुड़िया को भोजन करावे और वह गुड़िया यथार्थ में ही खाने लगे, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहे। आनन्द तो खिसक ही जायगा, सम्भव है, कुछ बच्चे भय से भग न जायँ! काव्य में जैसा कुछ सत्य रहता है, वैसा मानकर ही हम आगे बढ़ते हैं।

जीवन के सत्य में काव्य का समन्वय

हमें मान लेना पड़ता है कि कवि जो कुछ कह रहा है, वह सत्य है। कभी-कभी तर्क का भाव प्रबल होने पर सन्देह का अवसर मिलता है; परन्तु रस प्राप्त करने का संस्कार, उसे दबा देता है। सम्भावना, पूर्णरूप से, न तो सत्य है और न असत्य। संयोग से ही वह दो में से एक बनती है। इतिहासकार हमारी विश्वास-वृत्ति को चुनौती देकर आगे बढ़ सकता है और इसी प्रकार आगे बढ़ने में उसकी सार्थकता है, पर कोई काव्यकार यदि ऐसा प्रयत्न करे, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। मस्तिष्क की क्रियाओं के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य पहले विश्वास करना सीखता है और तब अनुमान करना। यदि किसी के अनुमान का कोई आधार न हो, तो हमें कल्पित विश्वास की भूमि तक भी वह पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकता। साहित्यकार बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् में लाकर ही काव्य-सृष्टि करता है। विधाता की यह विशाल सृष्टि मनुष्य के हृदय में भाव के रूप में ही सिमट कर आ सकती है। किसी पाँच फीट लम्बे व्यक्ति के चित्र को पाँच इञ्च के चित्रपट पर देखकर भी हमारी यह कभी

धारणा नहीं होती कि वह चित्रित व्यक्ति पाँच इञ्च से वड़ा नहीं है। पाँच फीट का जो सत्य है, वह पाँच इञ्च में सिमटकर भी वस्तुतः अपने यथार्थ रूप से छोटा नहीं होता। जगत् का सत्य भी अपने विस्तृत तत्त्वों के संकुचित होने पर काव्य में अपने मौलिक रूप से हटता नहीं।

कवि का जीवन और काव्य-मर्यादा

आज से कुछ दिन पहले संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों की यह धारणा थी, और यह धारणा आज भी किसी-न-किसी रूप में वनी हुई है कि कवि कि जीवनी उसके काव्य को समझने में सहायता नहीं देती। परन्तु पश्चिमी समीक्षा-सिद्धांत ने यह सम्भावना उपस्थिति कर दी है कि कवि का जीवन उसकी रचना से पृथक् नहीं है। जिस परिस्थिति में जो रचना हुई है, उससे उस पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है। जयपुर-नरेश को अपना राज्य-कार्य भूल, अपनी नवोढ़ा प्रिया में एकांत लवलीन देखकर, विहारी ने जो दोहा उनके पास भिजवाया था, उसका अर्थ-सौन्दर्य क्या इस प्रसङ्ग के परिचय से विशेष उद्भासित नहीं हो जाता? वाल्मीकि और कालिदास ने अपनी क्रूरता तथा मूर्खता के वदले अपने काव्यों को जो करुणा और विदग्धता से आप्लावित किया है, उससे क्या काव्य-विधान की स्थिति स्पष्ट नहीं होती? तुलसी और सूर ने अपने अलौकिक प्रेम को पराकाष्ठा तक पहुँचाकर जो अपने भावों का प्रत्यावर्त्तन किया, उससे क्या उनकी रचनाओं पर प्रकाश नहीं पड़ता? काव्य-समीक्षा में यदि जीवन की परिस्थितियाँ छोड़ दी जायँ, तो उसमें निश्चय कुछ कमी रह जाती है। कवि की रचना उसके जीवन का एक अङ्गमात्र है। अङ्ग की

समीक्षा में अङ्गी को भुलाना ठीक नहीं। तालाब में खिले हुए कमल की जैसी शोभा होती है, क्या वह तोड़कर हाथ में रखने से भी वैसी ही मालूम पड़ती है? आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में हम यदि इसी सिद्धान्त के अनुसार विचार करना शुरू करें, तो उनकी रचनाओं पर काफी प्रकाश पड़ सकता है। साधारण जीवन या साधारण घटना काव्य में स्थायित्व पा सकती है। एक मनुष्य के सुख-दुख के समान संसार के बहुत-से मनुष्यों के सुख-दुख हो सकते हैं, यह कोई असाधारण बात नहीं। काव्य में इसी साधारण तथ्य के आधार पर चिरन्तन सत्य को प्रतिष्ठित किया जाता है। असाधारण घटनाएँ जगत् में कभी-कभी हुआ करती हैं; अतः वे काव्य में भी कभी-कभी सत्य होती हैं। साधारण जीवन में सुख-दुख सदा ही बने रहते हैं, इसलिये सदा वे सत्य रहते हैं। काव्य में ऐसे जीवन की बड़ी उपयोगिता है। सत्य का तत्त्व शाश्वत है। वह कभी साधारण या असाधारण नहीं हुआ करता—सदा एकरस रहता है। यही एकरसता काव्य के स्थायित्व में योग देती है। काव्य-विधान के संक्रान्तिकाल में यह एकरसता विपर्यस्त नहीं होती, केवल बँधी हुई मर्यादा पर थोड़ा आघात पहुँचाती है, और यदि यह आघात किसी निपुण कलाकार की लेखनी-द्वारा पहुँचे, तो उसकी भी एक मर्यादा बँध जाती है।

सृष्टि के प्रत्येक दृश्य में ऐसा आकर्षण है, जो मानव-हृदय को स्वतः अपनी ओर आकर्षित करता है। जबतक मनुष्य को अपने जीवन से अनुराग है, जबतक वह संसार में और दिन तक जीने की लालसा रखता है, तबतक काव्य की सम्भावनाएँ

सदा बनी रहेंगी। इन सम्भावनाओं को मनुष्य का अपने जीवन का अनुराग ही पुष्ट करता रहेगा।

अत्मभाव और काल की संक्रांति

प्रकृति के जो दृश्य सदा से चले आए हैं, वे प्रायः अब भी उसी प्रकार हैं। कलाकार वस्तुतः उन दृश्यों का चित्रण नहीं करता, प्रत्युत् अपने हृदय की उन वृत्तियों का विश्लेषण करता है, जो उन दृश्यों के योग से उद्भूत होती हैं। जबतक सृष्टि का प्रत्येक सूर्योदय जीवन में एक नया पहलू सामने लाता रहेगा, तबतक काव्य की सम्भावनाएँ निश्चित हैं। काव्य-विधान की संक्रांति उसके तत्त्व को सुरक्षित रखने के लिए भी कभी-कभी आवश्यक हुआ करती है। संस्कृति बहुधा किसी के करने से नहीं हुआ करती, वह तो जीवन की एक ऐसी विशेपता है, जो स्वतः अपने अस्तित्व का परिचय देती रहती है। सभ्य जगत के जितने भी आन्दोलन हैं, वे काव्य की मर्यादा तथा दिशा पर अपना प्रभाव डालते हैं। नये-नये छन्दों का निर्माण, नये-नये अलंकारों का विधान होता है। काव्य-विधान के जो उपकरण जीर्ण समझे जाते हैं, उन सब का उद्धार करना ही संक्रान्ति का अभिप्राय समझा जाता है। संस्कृति बहुधा बहुमुखी नहीं होती। यद्यपि वह किसी एक ही दिशा पर अपना विशेष प्रभाव दिखलाती है, तथापि उसका प्रभाव इतना व्यापक होता है कि वह काव्य में एक नया क्षेत्र उत्पन्न कर देता है। काव्य के जीर्ण उपकरणों का भले ही यह कहकर उद्धार किया जाय कि वे अवश्य आधुनिक युग के योग्य नहीं, किन्तु यथार्थ में अनुपयुक्त नहीं होते। वे मनुष्य की अपनी कृतियाँ हैं; इसलिए ऐसी कृतियाँ जीर्ण समझी जाती हैं। सूर्योदय कभी पुराना नहीं

मालूम होता, चाँदनी भी कभी पुरानी नहीं मालूम पड़ती, यह इसलिये कि वे मनुष्य की सृष्टि नहीं हैं। मनुष्य बराबर सृष्टि करने की आकाँक्षा किया करता है, इसी कारण एक के बाद दूसरी सृष्टि कर वह अपने बुद्धि-वैभव का परिचय देता है। नये-नये छन्दों के निर्माण को हम बुरा नहीं मानते। बुद्धिवाद के इस विकास-युग में हम बुद्धि-कौशल को रोक भी नहीं सकते, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि काव्य-विधान में बुद्धि अपना व्यवसाय, भाव-क्षेत्र से सर्वथा बाहर, नहीं कर सकती। काव्य का संक्रान्तिकाल विचार को विकसित कर देता है, सृष्टि होने लगती है; पर सौन्दर्य तथा स्थायित्व का दर्शन पीछे होता है। युग-प्रवाह की बहुत कम ही रचनाएँ स्थायी साहित्य में स्थान पाती हैं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कलाकार का आत्म-भाव उस काव्य में स्वाभाविक गति से प्रतिष्ठित नहीं होता, बल्कि एक नयी मर्यादा को प्रतिष्ठित करने के लिए वह किया जाता है। समय की प्रगति के आगे-आगे कलाकार की भावनाएँ, आकाँक्षाएँ चलती हैं, किन्तु जबतक विस्तृत जन-समाज में उन भावनाओं तथा आकाँक्षाओं को अपनाने की क्षमता नहीं आती, तबतक उन पर काव्य का अस्तित्व टिक नहीं सकता। जिस विचार को हृदय में

भाव और विचार में काल का व्यवधान

हम आज स्थान देते हैं, काव्य में उसे कल हम सम्मिलित कर सकते हैं। बुद्धि और भाव में यह एक तात्त्विक अन्तर है। काव्य का विषय बुद्धि नहीं—भाव है और काव्य-विधान की संक्रान्ति केवल भावुकता से उत्पन्न नहीं हो सकती। बुद्धि-ग्राह्य विषय को भी भाव-रूप बनने में कुछ समय लगता है। काव्य

के लिए इसकी प्रतीक्षा भी आवश्यक है। मोगल बादशाही जमाने में हमारी सभ्यता पर थोड़ा-बहुत मुस्लिम प्रभाव किसी-न-किसी प्रकार पड़ा ही, लेकिन उस समय का काव्य उस प्रभाव से निर्लिप्त रहा। अंग्रेजी राज्य में जिस प्रगति से हमारी सांस्कृतिक सभ्यता की भावना मलिन होती गई, उसी प्रगति से काव्य-जगत् में भी परिवर्त्तन नहीं हुआ। सूट-बूटधारी कलाकार भी भारतीय काव्य की मर्यादा को सहसा तोड़ने का साहस नहीं कर सके। कला में परिवर्त्तन नियमानुकूल होता है। इसका प्रधान कारण यही है कि जीवन-पक्ष को छोड़कर काव्य का अस्तित्व अन्यत्र कुछ अर्थ ही नहीं रखता। जीवन एक प्रगति की धारा है, फिर काव्य का मूल संस्कार सहसा ही विनष्ट नहीं किया जा सकता।

आत्मभाव और चरित्र के प्रतिबन्ध

जिस प्रकार मनुष्य के चरित्र-निर्माण के प्रतिबन्धक रहते हैं, उसी प्रकार काव्य में कलाकार का आत्मभाव भी कई प्रतिबन्धों के बीच प्रतिष्ठित होता है। राज-भय, समाज-भय, धर्म-भय मानव-चरित्र को संयत रखता है। काव्य-विधान भी इस संयम का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जो जाति अपने जीवन को जिस रूप में देखती है, वह उसी ढंग के काव्य का निर्माण, काव्य का विधान करती है। भारतीय काव्य महान् है—विराट् नहीं। यह इस कारण कि भारतीय जनता अपने जीवन को विराट् की अपेक्षा महान् देखना चाहती है। जिस दिन भारतीय जीवन में यूरोपीय जीवन की तरह विराट् भावना, विराट् कल्पना की गुञ्जाइश होने लगेगी, उस दिन यहाँ के काव्य की रचना भी उसी दिशा में होगी। आज से कुछ दिन पहले हमारे काव्य में किसी उपेक्षिता, विधवा

या पतिता का कोई स्थान न था, पर अब ऐसे युग का निर्माण हो रहा है कि व्यक्ति के शील-सद्‌गुण पर जाति-जन्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मिट्टी के पात्र में सुधा रख देने से सुधा का मूल्य कम नहीं होता। स्वाभाविक गति से जीवन में जो महानता आ सकती है, केवल उसी पर काव्य का अधिकार होना चाहिए। मानवीय दुर्बलताएँ मनुष्य को महान् बनने से बहुत-कुछ रोक सकें, पर काव्य-जगत् से वे बाहर नहीं रह सकतीं। दुर्बलताओं से ही तो समाज बना करता है। अबतक विश्व की किसी जाति ने महानता का समाज स्थापित नहीं किया। आदर्शवादी काव्य महानता का प्रलोभन दे सकता है, पर उस प्रलोभन के निकट तथ्य के टिकने की कोई निश्चित सम्भावना नहीं। यही कारण है कि सामाजिक जीवन की संक्रान्ति की छाया काव्य पर पड़े बिना नहीं रह सकती। बिना किसी व्यक्तिगत दोष के कारण समाज में जिसका स्थान नितान्त निम्न कोटि का है, काव्य में उसी पात्र का चित्रण प्रायः सुधरे रूप में मिलता है। मौलिक विशेषताएँ किसी दुश्शील पात्र के प्रति श्रोता या पाठक की सहानुभूति को जाग्रत करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। प्रगतिशील जीवन के जो चित्र अभी काव्य में आ रहे हैं, उनके प्रति पाठक कुछ दिन तक भले ही केवल शील-द्रष्टा के रूप में रहें, पर अब वह युग आ रहा है, जब उसमें भी रसानुभूति की प्रतीति होगी।

संक्रान्ति-काल और काव्य

काव्य का प्रयोजन मनुष्य के केवल कर्मों के चित्रण से ही सिद्ध नहीं होता, जब तक अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण नहीं किया

काव्य-विधान में मूल तत्त्व का विश्लेपण

जाता, तब तक काव्य की उपयोगिता नहीं मानी जा सकती। यदि अच्छी अन्तर्वृत्तिवाले मनुष्य के कुकर्म को हम कुकर्म कह सकते हैं, तो बुरी अन्तर्वृत्तिवाले मनुष्य के सुकर्म को सुकर्म नहीं कहना चाहिए। किस वृत्ति से किस कर्म की उत्पत्ति हुई है, यही स्पष्ट करना काव्य का उद्देश्य है और इसी स्थिति में कलाकार अपने आत्मभाव को न्याय्य प्रमाणित कर सकता है। केवल कर्म को ही जीवन मानकर चलने से बड़ी-बड़ी बाधाएँ आ सकती हैं। जगत् में इन बाधाओं का मूल्य कुछ कम भी हो, किन्तु काव्य में इन बाधाओं से बड़ी रुकावट पैदा हो सकती है; क्योंकि काव्य में प्रत्येक पात्र के—प्रत्येक कर्म के—प्रेरक भाव का विश्लेपण नहीं होने से पाठक या श्रोता उसका हृदयंगम नहीं कर सकता। यह बात सच है कि रोटी खाने से पेट भर जाता है, चाहे वह रोटी जौ की हो या गेहूँ की। यदि क्षुधा को तृप्त करना ही हमारा लक्ष्य है, तो जौ-गेहूँ के झमेले में पड़ना आवश्यक नहीं। काव्य में भी जहाँ पात्र के चरित्र का प्रदर्शन करना आवश्यक है, वहाँ अन्तर्वृत्तियों का विश्लेपण अनिवार्य नहीं। रोटी खाने में जब हम अपनी क्षुधा को ही तृप्त नहीं करना चाहते, वरन् स्वाद का भी आनन्द लेना चाहते हैं, तब रोटी के तत्त्व का विश्लेपण उचित जान पड़ता है। इतिहास में कर्म के उल्लेख से काम चल जाता है, किन्तु काव्य में इसी पद्धति से काम नहीं चल सकता; क्योंकि स्वाद के रूप में हम काव्य का रस लेना चाहते हैं। इसीलिए मनुष्य के चरित्र से ही पाठक को सन्तोप नहीं मिलता। मनुष्य का हृदय चिरन्तन सत्य हो सकता है, पर

उसका चरित्र वैसा व्यापक नहीं होता। मनुष्य का जो हृदय है वही सदा उसका चरित्र नहीं हुआ करता। संसार की परिस्थितियाँ मनुष्य के चरित्र तथा हृदय को सर्वदा और सर्वथा एक नहीं रहने देतीं। काव्य में जब कलाकार मानव-चरित्र की सृष्टि करता है, तब हृदय और चरित्र को दो भिन्न-भिन्न तत्त्व मानकर ही। जगत् के व्यवहार को देखकर वह चरित्र का वर्णन करता है, किन्तु उस चरित्र को न्याय्य सिद्ध करने के लिए कलाकार को कारण देना पड़ता है और इसी प्रकार वह पात्र में अपने आत्म-भाव को प्रतिष्ठित कर जीवित रखता है।

कलाकार की शैली के सम्बन्ध में जो समीक्षा की जाती है, उसके सम्बन्ध में हमें पहले ही समझ लेना चाहिए कि कलाकार

कलाकार की शैली और उसका आत्मभाव

के व्यक्तित्व के अतिरिक्त शैली में भाषा की सांस्कृतिक विशेषता भी अपना महत्त्व रखती है। व्यक्तित्व का जितना महत्त्व है, उतना ही भाषा की मर्यादा का भी। आत्म-भाव की बहुत-सी विशेषताएँ शैली में मिलती हैं, किन्तु उन्हीं के ऊपर निर्भर रहकर किसी कलाकार के आत्म-भाव की मर्यादा स्थिर करना भ्रम से खाली नहीं। कलाकार जिस रूप में जगत् के सम्मुख रहता है, अपने काव्य में वह प्रायः वही नहीं रहता। काव्य की शैली मस्तिष्क का विषय न होकर कलाकार की भाव-दशा, प्रवृत्ति, आकाँक्षा तथा औत्सुक्य आदि को लेकर चलती है। हृदय सम्वेदना का क्षेत्र है, इसलिए शैली की समीक्षा के समय गणित और विज्ञान को साधारणतः छोड़कर कविता, नाटक और उपन्यास की ही चर्चा की जाती है। जिन विषयों में मनो-

वैज्ञानिक तत्त्वों का अभाव पाया जाता है, उनके आधार पर कलाकार के आत्म-भाव का विश्लेषण करना सम्भव नहीं होता। रवीन्द्रनाथ काव्य का मुख्य उद्देश्य कलाकार की अभिव्यक्ति ही समझते हैं। यह अभिव्यक्ति व्यक्ति की एक विशेषता के रूप में होती है। आत्म-भाव के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वह एक अन्विति है। एक व्यक्ति की विशेषता को अन्विति के सिद्धान्त के रूप में न माना जाय, तो काव्य के विधान में कलाकार के आत्मभाव की व्यापकता नहीं मानी जा सकती। कवि की अनुभूति का ज्ञान या उसके आत्म-भाव की प्रतिष्ठा उसकी पदावली के अतिरिक्त या उससे निरपेक्ष होकर नहीं हो सकती। जहाँतक काव्य-सम्बन्धी अनुभूति है, वह पदावली से अपनी सत्ता को पृथक् नहीं कर सकती। कवि में अनुभव करने और अनुभव को पदावली में व्यक्त करने की शक्ति भिन्न-भिन्न नहीं है। ग्राहक कल्पना और विधायक कल्पना के नाम से विश्लेषण के लिए हम एक विभाजन कर सकते हैं, किन्तु दोनों का क्रम एक दूसरे के साथ इतना मिला हुआ है कि कलाकार के जीवन में हम दो गतियाँ नहीं देख सकते। जहाँतक वह कवि है—अनुभूति-सम्पन्न है, वहाँतक वह अपने काव्य से भिन्न कुछ भी नहीं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह अपने काव्य से पृथक् कुछ है ही नहीं। रश्मियों का मण्डल ही तो सूर्य है, न रश्मियाँ सूर्य से भिन्न हैं और न सूर्य ही कोई पृथक् वस्तु है। काव्य भी अपने कला-विधान से अलग नहीं है और कलाकार का आत्म-भाव अपने काव्य से इतना संयुक्त है कि उसकी पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती।

कि मनुष्य विश्राम के समय अपने मन के ओज का उत्पादन करता है। यदि मनुष्य को विश्राम करने का अवसर न मिले, तो उसके मन में ओज का संचय नहीं हो पाता और फलतः उसे आनन्द से दूर-ही-दूर रहना पड़ेगा। विश्राम करने के बाद जब चित्त स्वस्थ हो जाता है और कुछ ओज भी संचित हो जाता है, तब प्रकृति के साधारण-से-साधारण दृश्य में भी मनुष्य को एक अपार आनन्द उमड़ता दिखाई पड़ता है। आनन्द की सम्वेदना जब एक ही स्थिति में बहुत देरतक बनी रहती है, तब वह स्थिति पूर्वापेक्षा सुख-कर प्रतीत नहीं होती ; क्योंकि बराबर एक स्थिति में रहने के कारण मन का सारा ओज एक ही बार खर्च हो जाता है। काव्य के पाठक या श्रोता को इस बात का अनुभव होगा कि बराबर एक ही प्रसंग कई बार पढ़ने या सुनने में वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा कि उसे पहली और दूसरी बार हो चुका रहता है। यदि काव्य में ही आनन्द माना जाय, तो एक ही प्रसंग को पचासों बार पढ़ने पर भी मनुष्य को प्रत्येक बार एक-सा ही आनन्द मिलना चाहिए, पर अक्सर ऐसा होता नहीं।

इस स्थिति का स्पष्टीकरण करने पर यह पता चलता है कि जिसके मन का ओज जितना ही क्षमता-सम्पन्न होगा, वह उतने ही आनन्द की व्यवस्था करने में सफल हो सकेगा। जो मनुष्य ओज का संचय जितनी ही कम मात्रा में करेगा, वह तदनुसार ही आनन्द प्राप्त करने का अधिकार पा सकेगा। निश्चेष्ट तथा कार्य-विमुख रहनेवाले अमीर-उमरा कुछ अधिक विलासी इसी कारण होते हैं कि उन्हें साधारण जनता से अपने ओज-

संचित ओज और उसका उपयोग

संचय की ज्यादा सुविधा रहती है। यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि यदि कोई मनुष्य बराबर ओज का संचय ही करता रहे और दैनिक काम-धन्धों में उस ओज का व्यय न कर केवल आनन्द के उपभोग में ही लगा रहे, तो उसे उसी मात्रा में आनन्द प्राप्त हो सकता है या नहीं ? मस्तिष्क की क्रियाओं तथा हृदय के भावों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य सदा परिवर्त्तन चाहता है। यदि परिवर्त्तन का क्रम रुक जाय, तो सृष्टि में आकर्षण की सत्ता नष्ट होने में देर न लगे। खिला हुआ सुन्दर फूल, इसीलिए इतना प्रिय मालूम होता है कि एक दिन वह खिला ही न था, कली के रूप में था और आज खिलकर वह झड़ने जा रहा है। मनुष्य को अपना जीवन इसीलिए इतना प्रिय है कि उसने एक दिन संसार में जन्म लिया है और किसी दिन उसे मरना भी है। वस्तु, भाव, क्रिया आदि में अमरत्व रहने से उनका स्वाभाविक सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है। हमारे भारतीय कलाकारों ने सौंदर्य की परिभाषा बड़ी मार्मिक अन्तर्दृष्टि से की है कि क्षण-क्षण जो नवीनता उत्पन्न करे उसी को सौंदर्य कहते हैं। काव्य या प्राकृतिक दृश्य में यदि हमें नवीनता नहीं मिलेगी, तो मन अपने ओज का व्यापार अच्छी तरह नहीं कर सकेगा। जो बराबर ओज का ही सञ्चय करता रहता है, उसे ओज-सञ्चय के प्रयत्न में भी ओज का व्यय करना पड़ता है। एक बार ओज सञ्चित कर लेने के बाद वह उसी मात्रा में बराबर बना नहीं रह सकता ; क्योंकि मनुष्य की मानसिक क्रिया जाग्रतावस्था में कभी बन्द नहीं रह सकती। इञ्जिन को चालू रखने के लिए पेट्रोल का खच देना ही पड़ेगा। ओज का सञ्चय, भाण्डार बढ़ाने के लिए नहीं

किया जा सकता। जिसके मन में जो कुछ अतिरिक्त ओज बचा है, उससे यदि वह वाह्य जगत् का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता, तो उसका वह ओज मानसिक क्रिया के सञ्चालन में ही समाप्त हो जाता है। जिस भण्डार का द्वार सदा ही खुला रहता है, वहाँ कुछ छिपाकर रखने में सफलता नहीं मिल सकती।

आनन्द और विषाद तथा ओज

आनन्द जबतक अनुभूत नहीं रहता, तबतक उसको प्राप्त करने की प्रेरणा मन में नहीं होती। विषाद भी जबतक अनुभूत नहीं रहता, तबतक उसको दूर करने की चिन्ता मन में नहीं उठती। जीवन में आनन्द है, इसलिए हम विषाद को हटाकर उस स्थिति को बचाए रखने का प्रयत्न करते हैं। मन के विश्राम की स्थिति में जो ओज सञ्चित होता है, उससे जितनी देर तक आनन्द लिया जा सकता है, उससे कम ही समय में विषाद सब ओज को आत्मसात् कर ले सकता है। किसी वस्तु के निर्माण में जितना काल अपेक्षित है, उतना उसके विध्वंस में नहीं। ओज-सञ्चय में आनन्द के लिए हम एक स्थिति का निर्माण करते हैं, परन्तु विषाद की छाया पड़ते ही वह नष्ट हो जाती है। विषाद का हल्का-से-हल्का आभास भी हमें व्यथित कर देता है, किन्तु साधारण आनन्द का भाव हमें जीवन की साधारण स्थिति में ही रखता है। साधारण से अधिक आनन्द पाकर ही हम अपने हृदय में उसके अस्तित्व का उपभोग करते हैं।

आनन्द को प्राप्त करने तथा विपाद को दूर करने में ओज का व्यय होता है और इन दोनों ही स्थितियों में हमारी मानसिक

वृत्तियां सक्रिय रहती हैं। किसी समय वे अन्तर्मुख और किसी समय वहिर्मुख रहती हैं। जबतक आनन्द या विषाद की

ओज और स्थिति-परिवर्त्तन

प्रकृति या मात्रा में कोई उल्लेखनीय अन्तर न हो तबतक हमें उसके अस्तित्व का प्रायः सम्वेदनीय वोध नहीं होता। दैनिक जीवन में जिसे जितना आनन्द या विषाद प्रति दिन मिला करता है, उससे अपनी इस स्थिति में किसी प्रकार की नवीनता का ज्ञान नहीं होता और फलतः उसके लिए उस मात्रा में सुख या दुःख जीवन का एक सामान्य व्यापार वना रहता है। अन्धेरे कमरे में जव अचानक दीपक का प्रकाश होता है, तव हम उस ओर ध्यान देने को वाध्य होते हैं, परन्तु दिनभर सूर्य के उगे रहने पर हमें वरावर उस ओर ध्यान देने की परवाह नहीं रहती। वाल-रवि की सुनहली किरणें इसलिए रमणीय मालूम होती हैं कि वे गहन अन्धकार से फूट निकली हैं। सांध्य-सूर्य की लालिमा हमें इसलिए प्रिय मालूम होती है कि कुछ क्षण के वाद गहन कालिमा में उसका पर्यवसान होगा। परिवर्त्तन या नवीनता का यही क्रम जीवन में ओज का सद्व्यय करता है। इस प्रकार के आनन्द को प्राप्त करने के लिए हमें अपनी चेतना-शक्ति और अध्यवसाय पर वरावर जोर नहीं देना पड़ता। स्वाभाविक गति से इस प्रकार काम होता चलता है कि हम अपने में सदा चेतन प्रयत्न का अनुभव नहीं कर पाते। किसी भाव को पहली वार ग्रहण करने में हमें अपनी चेतना-शक्ति तथा अध्यवसाय की जितनी सहायता लेनी पड़ती है, उतनी क्रमशः उसी भाव की उत्तरोत्तर प्राप्ति में नहीं। कुछ दिनों के वाद वही

भाव हमारे हृदय का एक स्थायी अङ्ग बन जाता है[1]।

मन की स्थिति और व्यवधान

मन की साधारण स्थिति में हम विदूषक की बातों से प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब हमारी मानसिक स्थिति में कोई असाधारण दुःखद परिवर्त्तन हुआ रहता है, तब प्रायः विदूषक की मनोरञ्जक बातों को भी सुनकर, प्रसन्न होने के बदले, झुँझला उठते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य जैसा चाहता है, वैसा ही मानसिक स्थिति को वनाए रखने का प्रयत्न करता है। उसमें वह किसी दूसरे का व्यवधान सहन नहीं कर सकता। हृदय में जब किसी प्रकार की सम्वेदना उठती है, तब यदि वह सम्वेदना सुखद होती है, तो कल्पना में बरावर इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि प्रवृत्ति की यह स्थिति सदा वनी रहे और इसके विपरीत यदि सम्वेदना दुःखद होती है, तो जल्द-से-जल्द उसे हटाने की कोशिश की जाती है। जब हम बैठे-बैठे अपने मन में कल्पना का आनन्द लेते रहते हैं, तव मन की वैसी स्थिति में किसी के कुछ कहने पर पहली वार तो हम उत्तर दे देते हैं, पर दूसरी-तीसरी बार पूछे जाने पर झुँझला उठने को हम विवश हो जाते हैं। भाव की जो सत्ता हमारे मन में वनी रहती है, उसमें किसी प्रकार की वाधा हमें वाँछनीय नहीं। वाधा आते ही हम स्वाभाविक रूप से झिड़ककर उसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। काव्य में भी जब हमारी मानसिक स्थिति भाव की समतल भूमि पर बनी रहती है, तव इस स्थिति के प्रतिकूल किसी प्रकार की व्यञ्जना होने पर उस वाधा के प्रति हमारे मन में अन्यथा भाव होना एक साधारण

१. Mc Dongall: Body and Mind. P, 276.

बात है। अन्यथा भाव इस बात का प्रमाण है कि हमारी अपनी सत्ता, काव्य के किसी विशेष पात्र की सत्ता से मेल नहीं खाती। ऐसी स्थिति में हमें वैसे वर्णन से आनन्द नहीं होता; क्योंकि तब हमारी समझ से ओज का अपव्यय होने लगता है। कवि किसी के हृदय में नया भाव नहीं भरता, बल्कि वह केवल अनुभूत भावों को ही जाग्रत तथा उत्तेजित करता है। किसी नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन को पढ़कर या सुनकर पाठक या श्रोता उनके सुख से अपने को सुखी नहीं मानता, वरन् उस वर्णन से उसके अपने हृदय का ही भाव जाग्रत होकर उत्तेजित हो जाता है और रस की प्रतीति होने लगती है। यदि ऐसे सुख की वासना का संस्कार पाठक या श्रोता के चित्त पर नहीं है, तो काव्य के ऐसे वर्णन से उसका मनोरञ्जन नहीं हो सकता।

मन का संस्कार और रस की प्रतीति

काव्य में वैचित्र्य या चमत्कार को भी एक स्थान प्राप्त है। यह सत्य का अपलाप नहीं, किन्तु द्राविड़ी प्राणायाम से सत्य की प्रतीति कराना है। सत्य को जानना और मानना, दो बातें हैं। जगत् का जो सत्य है, काव्य का सत्य ठीक उसी रूप में व्यक्त नहीं किया जाता। वैचित्र्य या चमत्कार इसी प्रकार काव्य का सत्य है, जगत् के सत्य से कभी-कभी इसे बहुत दूर रखना पड़ता है। पाठक या श्रोता के हृदय में ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि वह इस वैचित्र्य या चमत्कार के सत्य को तथ्य समझकर ही आनन्द प्राप्त करता है। आनन्द का यह प्रलोभन यदि उसे न हो, तो वह काव्य के ऐसे सत्य को नहीं समझ सकता। काव्य

काव्य-वैचित्र्य अथवा चमत्कार

और चमत्कार दोनों में अन्तर है और वह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि काव्य को एक प्रतीति के रूप में लेकर हम विमुग्ध रूप से मौन हो जाते हैं, किन्तु वैचित्र्य या चमत्कार के समय हम अपना मौन भङ्गकर वाह-वाह कह उठते हैं।

रस की प्रतीति में मनोरञ्जन—एक साधन, उद्देश्य नहीं

काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरञ्जन नहीं हो सकता। उद्देश्य के मार्ग में मनोरञ्जन एक साधन है। उसका अन्तिम उद्देश्य जगत् के साथ मानव-हृदय का सामञ्जस्य स्थापित करना है। मनोरञ्जन का प्रयोजन चित्त-वृत्ति को रस-दशा की उस भाव-भूमि पर पहुँचाकर संलग्न रखना है, जहाँ काव्य के मूल-भाव से प्रभावित होते समय पाठक या श्रोता की चित्त-वृत्ति इधर-उधर न हो जाय। मनुष्य की चित्त-वृत्ति इतनी व्याकरणात्मक है कि जबतक उस पर किसी प्रकार का मधुर प्रतिबन्ध नहीं रखा जाय या उसके सामने कोई प्रलोभन या आकर्षण न रखा जाय, तब तक वह एक स्थिति में कुछ देर के लिए भी नहीं रह सकती। चित्त की ऐसी स्थिति में काव्य अपने सारे उद्देश्यों को लेकर मनोरञ्जन के पीछे-पीछे चलता है। उस समय पाठक या श्रोता की अपनी सत्ता काव्य के तथ्य से पृथक् नहीं रहती, उसी में मिल जाती है। यदि काव्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरञ्जन ही रहता, तो इसके लिए काव्य जैसे दुर्लभ व्यापार को घसीटने की आवश्यकता नहीं होती। किसी के बेढंगेपन पर हम हँसते हैं, थोड़ी देर के लिए उससे हमारा मनोरञ्जन हो जाता है, परन्तु क्या वह बेढङ्गापन काव्य की समता कर सकता है? काव्य-जैसे गम्भीर विषय का उद्देश्य मनोरञ्जन जैसा हल्का विषय नहीं हो सकता।

मनोरञ्जन को हल्का कहने से हमारा तात्पर्य यही है कि उसका कोई उससे भिन्न उद्देश्य नहीं होता। हास्यरस में मनोरञ्जन की सत्ता बड़ी प्रत्यक्ष रहती है, किन्तु इस मनोरञ्जन के अतिरिक्त पाठक या श्रोता के हृदय पर किसी और बात का भी संस्कार जमाना है, जिसे वह उस समय मनोरञ्जन-मात्र ही समझकर रह जाता है और उसका हृदय एक अज्ञात दिशा की ओर बढ़ जाता है।

रस-पद्धति मानसिक व्यायाम है

जिस प्रकार शारीरिक बल के लिए शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता है, उसी प्रकार मानसिक शक्ति के लिए भावों का व्यायाम अपेक्षित है। प्रत्येक अङ्ग के विकास के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम के ढङ्ग निश्चित हैं। मानसिक शक्ति के विकास के लिए भी नाना प्रकार के भावों का विन्यास करना पड़ता है। जीवन में काव्य की सफलता का यही परिणाम है। वीर-रस के काव्य से हम अपने मानसिक उत्साह का विकास कर सकते हैं, करुण-रस के काव्य से हम अखिल जीव के प्रति शोक-स्पन्दित होकर अपनी सहानुभूति-भावना की वृद्धि कर सकते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रस-प्रधान काव्यों से हम भिन्न-भिन्न भावों को विकसित करने में समर्थ हो सकते हैं। यह एक साधारण बात है कि जो व्यक्ति जिस ढङ्ग के काव्य का अध्ययन करता है, उसके विचार प्रायः उसी ढङ्ग के होते हैं। यदि रामायण से केवल पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, पातिव्रत, मैत्री, दुष्टों के दमन आदि की ही शिक्षा मिले, यदि महाभारत से केवल 'यतो धर्मः ततो जयः' का ही उपदेश प्राप्त हो, तो दोनों महाकाव्यों की विशालता का तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। महाकाव्यों में हमें जीवन की विविधताएँ

मिलती हैं। उनसे हम विश्व-जीवन को आत्मसात् करने की प्रेरणा पाते हैं—यही उनका चरम उद्देश्य है।

आनन्द और विषाद का रासायनिक सम्मिश्रण

आनन्द और विषाद—दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, परन्तु किसी विशेष मानसिक स्थिति में दोनों तत्त्वों का ऐसा रासायनिक सम्मिश्रण हो जाता है कि हम दोनों तत्त्वों को पृथक् नहीं कर पाते। कालिदास के मेघदूत का विरही यक्ष जब अलकापुरी-स्थित अपनी प्यारी विरहिणी का स्मरण करता है, तब उसकी इस स्मृति-भावना में आनन्द और विषाद के जो तत्त्व एक-से मिले हुए हैं, उनको कोई भी मनोवैज्ञानिक पृथक् नहीं कर सकता। भावों का योग गाणितिक क्रिया से नहीं हुआ करता, वह तो रासायनिक योग होता है। यक्ष को अपनी प्रिया की स्मृति से उसकी विरहावस्था पर विषाद होता है, परन्तु उस विषाद की स्मृति से भी उसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उसको भी वह छोड़ नहीं सकता। यहाँ विषाद से भिन्न आनन्द का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार के आनन्द को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित विषाद को स्वीकृत करना ही पड़ेगा। प्रत्येक मानसिक स्थिति के मूल से यह पता चलता है कि शुद्ध विषाद के जितने रूप हमारे मन में आया करते हैं, उतने शुद्ध आनन्द के नहीं। गौतम-पत्नी यशोधरा अपने पति के, जगत् के कल्याण की खोज में, राजमहल से चुपचाप निकल जाने पर स्वाभाविक रूप से विषण्ण होती है, किन्तु वह अपने अस्तित्त्व की विशेष मर्यादा न रखकर पति के भावी गौरव की भावना से उल्लसित होकर कहती है—

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से—
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझ से कहकर जाते।

गए, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते - गाते ?
सखि, वे मुझ से कहकर जाते।

—मैथिलीशरण गुप्त

जो कवि एक ही मानसिक स्थिति में आनन्द और विषाद दोनों को अलग-अलग दिखाने की चेष्टा करता है, वह यथार्थ में एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक असत्य को ही प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। एक आँख में आनन्द का उल्लास और दूसरी में विषाद का अवसाद रह ही नहीं सकते। दोनों आँखों में दोनों तत्त्वों की मिश्रित सत्ता माननी पड़ेगी। वाह्य जगत् के विषाद को पाकर हमारे मन का ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होने लगता है, परन्तु काव्य में जब हम किसी के विषाद का वर्णन पढ़ते हैं, तब आश्रय के साथ तादात्म्य स्थिति को प्राप्त कर उस विषाद से आनन्द प्राप्त करते हैं।

काव्य के वर्णनों में ज्यादा ध्यान हम उन्हीं बातों—घटनाओं पर देते हैं, जिनसे हमें आनन्द मिलता है। व्यर्थ की बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित ही नहीं होता। 'सत्काव्य का सारा

काम केवल वर्णनों से ही नहीं चलता, उसका बहुत-सा काम संकेत या उपेक्षा से ही पूरा किया जाता है। काव्य में जहाँ संकेत या उपेक्षा रहती है, वहाँ उस अंश की पूर्त्ति पाठक अपनी बुद्धि से कर लेता है। यदि काव्य में केवल साङ्गोपाङ्ग वर्णन से ही काम लिया जाता, तो वह किसी की दिनचर्या से विशेष महत्त्व नहीं रख सकता। जो सत्य है अथवा जिस घटना का जो परिणाम सत्य है, उसका संकेत या उपेक्षा कर देने से पाठक का बहुत-सा समय, उसका बहुत-सा ओज बच जाता है, जिससे वह काव्य के आगे के प्रकरणों को मनोयोग-पूर्वक पढ़ने में समर्थ हो सके। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचन्द्र के जीवन में बहुत-सी घटनाएँ दिखलाई हैं, किन्तु नित्यकर्म के जो अङ्ग—शौच, स्नान, संध्या, भोजन आदि हैं, उनको बार-बार दिखलाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जीवन के ये व्यापार ऐसे हैं जो उसकी सत्ता दिखलाने के बाद, बिना किसी विशेष परिस्थिति के, उल्लेखनीय नहीं माने जाते। पाठक या श्रोता समझ लेता है कि जीवन के ये अनिवार्य व्यापार हैं। इनके उल्लेख की उपेक्षाकर उसका बहुत सा मानसिक ओज बचा लिया गया है। जबतक अपने मानसिक ओज का व्यय न किया जाय, तबतक काव्य से आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं; अतएव जहाँ मानसिक ओज अनुत्पादक रूप से खर्च होता है, वहाँ का वर्णन रुचिकर नहीं मालूम पड़ता। जो वस्तु कुछ खर्च करके खरीदी जाती है, उसकी उपयोगिता पर हमारा ध्यान बराबर बना रहता है। यदि मनुष्य को काव्य का आनन्द बिना किसी प्रकार के खर्च के ही मिलो करता, तो

काव्य में संकेत या उपेक्षा से ओज की रक्षा

से अनावश्यक प्रसङ्ग का बार-बार उल्लेख अखरता नहीं। जो घटनाएँ बहुकाल-व्यापी होती हैं, उनकी स्मृति, उनका काल्पनिक चित्र, किसी संकेत को पाकर क्षण-भर में ही मन में सजीव हो जाता है। यदि संकेत या उपेक्षा से काम न लिया जाय तो किसी सत्काव्य की रचना सम्भव नहीं। उसमें इतनी अनावश्यक बातें एकत्र हो जायँगी कि मन का सारा ओज आरम्भ में ही समाप्त हो जायगा। जिन बातों से हमें मानसिक सन्तोष नहीं होता, औत्सुक्य जागरित होकर आगे नहीं बढ़ता, वे हमारे आनन्द का सञ्चार नहीं कर सकतीं। कवि अपना भाव पाठक को नहीं देता, बल्कि वह संकेत से पाठक या श्रोता के ही हृदय के भाव को सञ्चारित कर देता है। यदि पाठक या श्रोता के हृदय में उस प्रकार के भाव का मूल वर्त्तमान न हो, तो उसे कवि के उस प्रकार के भाव-संकेत से आनन्द नहीं मिल सकता। बीज अपने में पूर्ण माना जा सकता है, किन्तु पृथ्वी से उसे विकास के जो तत्त्व प्राप्त होते हैं, उन्हें भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। बहुत से चित्रों में हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति का एक ही कान चित्रित हुआ है, किसी व्यक्ति की केवल छाती ही झलक रही है, ऐसा देखकर हम को यह कभी सन्देह भी नहीं होता कि चित्रित व्यक्ति कनकटा है, केवल छातीवाला है, पीठ उसे है ही नहीं! यह संकेत या उपेक्षा का ही दृष्टान्त है कि हमारी कल्पना उस अवर्णित या उपेक्षित अंश की पूर्त्ति कर देती है। काव्य में हमारी यह प्रवृत्ति ऐसी स्वाभाविक रीति से काम करती जाती है कि हमें कभी इसके लिए सचेत नहीं रहना पड़ता। चेतना-शक्ति का स्वाभाविक अङ्ग बनकर, बिना हमारी विशेष अनुमति के ही, कल्पना अपना काम करती रहती है। इस प्रकार हमारा मानसिक ओज सुरक्षित रहकर निकट भविष्य में आनन्द के उत्पादन में योग देता है।

पाँचवाँ अध्याय

काव्य का अर्थ-बोध

काव्य की बहुत-सी रचनाएँ ऐसी होती हैं, जो हमें प्रिय तो मालूम होती हैं, किन्तु उनका अर्थ-बोध नहीं होता। किसी रचना का प्रिय लगना ही जीवन के साथ उसके हार्दिक सम्बन्ध का द्योतक है। जो वस्तुतः हृदय के भाव हैं, वे किसी-न-किसी रूप से हृदय में स्थान पाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं। मनुष्य की चेतना-शक्ति साधारणतः तीन रूपों में जाग्रत् होती है। इन्हें हम पूर्ण चेतना, अर्द्ध चेतना तथा सांस्कारिक चेतना कह सकते हैं। ध्यानपूर्वक किसी दृश्य को देखना या उस पर विचार करना पूर्ण चेतना है। कभी-कभी किसी शहर या भीड़ में ऐसा आदमी भी देखने को मिल जाता है, जो कुछ परिचित-सा तो मालूम पड़ता है, किन्तु उसका नाम-पता याद नहीं रहता, या मालूम नहीं हुआ रहता। ऐसे व्यक्ति हमारे हृदय में थोड़ा स्थान तो अवश्य कर लेते हैं, परन्तु अपना अर्थ-बोध नहीं देते। रुचि या वृत्ति के अनुकूल विषयों में दक्षता प्राप्त करने के लिए हमारी सांस्कृतिक चेतना सहायक होती है। काव्य की ऐसी रचनाएँ अपने वहिरङ्ग से,

अर्थ-बोध और चेतना

वर्ण से, स्वर से हमें विमुग्ध तो कर लेती हैं, किन्तु अपना स्पष्ट अर्थ-बोध न देने के कारण हमें अधिकतर रस-मग्न होने से वञ्चित रखती हैं। काव्य में ऐसे अर्थ-ज्ञान-हीन सुखानुभव को शास्त्रीय दृष्टि से अप्रबुद्ध उपभोग कहते हैं।

अर्थ-बोध और ज्ञान-शक्ति

काव्य में किसी कठिन स्थल को समझने में जब हम असमर्थ-से मालूम पड़ते हैं, तब अपनी ज्ञान-शक्ति के मर्यादित क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए हमारे अन्तर्जगत् की शक्ति जोर करती है। ऐसी स्थिति में भाव-शक्ति की विकलता बढ़ती है; क्योंकि जबतक ज्ञान-शक्ति भावों के प्रवेश के लिए दरवाजा खोल नहीं देती, तबतक काव्य के अर्थ-बोध पर आवरण पड़ा ही रहता है। किसी क्लिष्ट पद के अर्थ को न जानने पर भी प्रसंग-प्राप्त भाव को लेकर हम अपना काम चलाने की चेष्टा करते हैं। किसी पद को स्पष्ट जान लेना मनुष्य की आकलन-शक्ति का मुख्य प्रयोजन नहीं है। मनुष्य की अन्तर्शक्ति को विकसित करना काव्य का विशेष तात्पर्य है, किन्तु उपर्युक्त अवस्था में हम पद के अर्थ को जान लेना ही पर्याप्त समझ लेते हैं। किसी एक पद को लेकर माथापच्ची करने से हम छुट्टी पा जाते हैं और इस प्रकार हम अज्ञान के बन्धन से अपने को मुक्त-सा समझकर प्रसन्न होते हैं। वस्तुतः यह प्रसन्नता हमारी मर्यादित शक्ति को विस्तृत करने के काम की नहीं होती। पानी में मिश्री की डली थोड़ी देर के बाद घुलमिल जाती है, परन्तु मिश्री की डली के बदले यदि पत्थर का टुकड़ा आ मिले, तो उसमें गलाने की क्षमता नहीं रहती। पर, इससे हमें अधिक घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि अन्तर्जगत् की शक्ति में तीव्रता

पाँचवाँ अध्याय

काव्य का अर्थ-बोध

काव्य की बहुत-सी रचनाएँ ऐसी होती हैं, जो हमें प्रिय तो मालूम होती हैं, किन्तु उनका अर्थ-बोध नहीं होता। किसी रचना का प्रिय लगना ही जीवन के साथ उसके हार्दिक सम्बन्ध का द्योतक है। जो वस्तुतः हृदय के भाव हैं, वे किसी-न-किसी रूप से हृदय में स्थान पाने का प्रयत्न अवश्य करते हैं। मनुष्य की चेतना-शक्ति साधारणतः तीन रूपों में जाग्रत् होती है। इन्हें हम पूर्ण चेतना, अर्द्ध चेतना तथा सांस्कारिक चेतना कह सकते हैं। ध्यानपूर्वक किसी दृश्य को देखना या उस पर विचार करना पूर्ण चेतना है। कभी-कभी किसी शहर या भीड़ में ऐसा आदमी भी देखने को मिल जाता है, जो कुछ परिचित-सा तो मालूम पड़ता है, किन्तु उसका नाम-पता याद नहीं रहता, या मालूम नहीं हुआ रहता। ऐसे व्यक्ति हमारे हृदय में थोड़ा स्थान तो अवश्य कर लेते हैं, परन्तु अपना अर्थ-बोध नहीं देते। रुचि या वृत्ति के अनुकूल विषयों में दक्षता प्राप्त करने के लिए हमारी सांस्कृतिक चेतना सहायक होती है। काव्य की ऐसी रचनाएँ अपने बहिरङ्ग से,

अर्थ-बोध और चेतना

वर्ण से, स्वर से हमें विमुग्ध तो कर लेती हैं, किन्तु अपना स्पष्ट अर्थ-बोध न देने के कारण हमें अधिकतर रस-मग्न होने से वञ्चित रखती हैं। काव्य में ऐसे अर्थ-ज्ञान-हीन सुखानुभव को शास्त्रीय दृष्टि से अप्रबुद्ध उपभोग कहते हैं।

अर्थ-बोध और ज्ञान-शक्ति

काव्य में किसी कठिन स्थल को समझने में जब हम असमर्थ-से मालूम पड़ते हैं, तब अपनी ज्ञान-शक्ति के मर्यादित क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए हमारे अन्तर्जगत् की शक्ति जोर करती है। ऐसी स्थिति में भाव-शक्ति की विकलता बढ़ती है; क्योंकि जबतक ज्ञान-शक्ति भावों के प्रवेश के लिए दरवाजा खोल नहीं देती, तबतक काव्य के अर्थ-बोध पर आवरण पड़ा ही रहता है। किसी क्लिष्ट पद के अर्थ को न जानने पर भी प्रसंग-प्राप्त भाव को लेकर हम अपना काम चलाने की चेष्टा करते हैं। किसी पद को स्पष्ट जान लेना मनुष्य की आकलन-शक्ति का मुख्य प्रयोजन नहीं है। मनुष्य की अन्तर्शक्ति को विकसित करना काव्य का विशेष तात्पर्य है, किन्तु उपर्युक्त अवस्था में हम पद के अर्थ को जान लेना ही पर्याप्त समझ लेते हैं। किसी एक पद को लेकर माथापच्ची करने से हम छुट्टी पा जाते हैं और इस प्रकार हम अज्ञान के बन्धन से अपने को मुक्त-सा समझकर प्रसन्न होते हैं। वस्तुतः यह प्रसन्नता हमारी मर्यादित शक्ति को विस्तृत करने के काम की नहीं होती। पानी में मिश्री की डली थोड़ी देर के बाद घुलमिल जाती है, परन्तु मिश्री की डली के बदले यदि पत्थर का टुकड़ा आ मिले, तो उसमें गलाने की क्षमता नहीं रहती। पर, इससे हमें अधिक घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि अन्तर्जगत् की शक्ति में तीव्रता

रहे, तो पानी की कड़ी धार से पत्थर टूट भी सकता है। यदि न
टूटे तो कुछ दिनों के बाद उस पत्थर के टुकड़े को कज्जलवेष्ठित
होकर उसी वातावरण की दुहाई देकर रहना पड़ता है। ऐसे
अर्थ-ज्ञान-हीन पद जो हमारे मानस में बने रहते हैं, हमें काव्य
में नवागन्तुक-से नहीं मालूम पड़ते। अर्थ-स्पष्ट होने पर निश्चय
ही वे हमें मन की सतत् उद्वेगशील क्रिया को विश्राम देकर प्रसन्न
कर देते हैं।

मनुष्य की अन्तर्शक्ति गम्भीर दार्शनिक रहस्य से भरी हुई है।
संसार में ऐसे बहुत से तथ्य होते हैं, जिनका ज्ञान अन्तर्जगत् को
हुआ रहता है, परन्तु वे उतने स्पष्ट नहीं होते,
जितने से बाहर भी प्रकाशित हो जायँ। साधा-
रणतः जीवन में ऐसे बहुत-से क्षण आते हैं, जब
हम बिना किसी स्पष्ट या प्रत्यक्ष कारण के प्रसन्न या विषण्ण
होते हैं। वस्तुतः ये भाव अकारण नहीं हुआ करते। हमारी
अन्तर्शक्ति को इस प्रसन्नता या विषण्णता का कारण मालूम हुआ
रहता है, परन्तु अस्पष्टता के कारण हम अपने अनुभव को वाह्य
जगत् में प्रकाशित नहीं कर सकते। जीवन के रहस्य की तरह
काव्य की भी अपनी एक समस्या है। काव्य एक प्रतीति के रूप में
जितना रमणीय हो सकता है, उतना प्रतिपादन के रूप में नहीं।
आग्रह और तर्क के बल पर काव्य का यश-विस्तार नहीं हो
सकता। यही कारण है कि जो काव्य हृदय पर अनायास ही
कोई प्रभाव नहीं डाल सकता, उसे किसी के
समझाने-बुझाने पर भी विशेष शक्ति प्राप्त नहीं
हो सकती। रवि बाबू ने अपनी 'जीवन-स्मृति' में इस तथ्य

अन्तर्शक्ति और अभिव्यक्ति

अर्थ-बोध और तर्क

पर बड़े मनोरंजक ढंग से प्रकाश डाला है—'क्या कोई मनुष्य कुछ बात समझाने के लिये कविता किया करता है?'—वस्तुतः मनुष्यके हृदय में जो प्रतीति होती है, वह काव्य के रूप में बाहर निकलने का प्रयत्न किया करती है। यदि ऐसी कविता को सुन कर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता, तो उस समय मेरी मति कुण्ठित हो जाती है। फूल को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी समझ में कुछ नहीं आता, तो इसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझाने-जैसा है भी क्या; यह तो केवल भास-मात्र है। इस पर भी यदि यही कहे—हाँ, यह तो ठीक है, मैं भी जानता हूँ, पर इसका अर्थ क्या?, और इसी तरह बार-बार प्रश्न करने लगे, तो उससे छुटकारा पाने के लिये दो ही मार्ग हैं—या तो उस विषय की चर्चा ही बदल दी जाय या यह सुगन्ध, पुष्प में विश्व के आनन्द की धारण की हुई आकृति है, कहकर उस विषय को और भी अधिक गम्भीर बना दिया जाय।'

बुद्धिवाद और वैचित्र्य

हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पहले बुद्धि ने आक्रमण किया, तब धीरे-धीरे उस पर भाव भी सञ्चरित होने लगा। मार्ग को प्रशस्त करने का काम बुद्धि करती है, भाव अनुचर के रूप में पीछे-पीछे चलता है। काव्य में बुद्धिवाद के प्रति अन्याय करने का साहस हम नहीं रखते। हमारे इस कथन का तात्पर्य यह भी नहीं कि काव्य-निर्माण में पक्षपात के कारण बुद्धिवाद को हम विशेष महत्त्व दे रहे हैं। जो सड़क एक बार बन जाती है, उसे नित्यप्रति बनाने की आवश्यकता नहीं होती; दिल्ली जानेवाली सड़क हम से दिल्ली का परिचय नहीं बताती, उस सड़क से चलकर ही हम

दिल्ली को देख सकते हैं, उसके सम्बन्ध की बातें जान सकते हैं। हमारे व्यक्तित्व की सीमा का विस्तार करना अवश्य ही बुद्धि का काम है, परन्तु प्रत्येक भाव का नियन्त्रण बुद्धि नहीं कर सकती। काव्य में बहुत से स्थल ऐसे होते हैं, जहाँ बुद्धि की अग्राह्यता पर ही हमें आनन्द मिलता है। वैचित्र्य या चमत्कार की बातें कभी-कभी बुद्धि के लिये अग्राह्य होते हुए भी युक्ति-संगत मालूम पड़ती हैं और अर्थ-बोध की दृष्टि से भी उसमें कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती। साहित्य-शास्त्र के विधाताओं ने वाच्यार्थ से अधिक महत्त्व व्यङ्ग्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को दिया है, पर यथार्थ रस तो वाच्यार्थ ही देता है[१]! शब्द की इन तीनों शक्तियों का अन्तिम उद्देश्य तथ्य-बोध है, किन्तु इसी बोध-वृत्ति को प्राप्त करने के लिए हमें भिन्न-भिन्न दिशाओं से जाना पड़ता है। 'देश के लिए मर कर जीना सीखो'—इसमें लक्षणा कष्ट सहने का आदेश देती है, पर अभिधा तो लक्षणा के आदेश के साथ ही अतिरिक्त आनन्द भी देती है, जो काव्य की वास्तविकता है। 'मरकर भी जीने' के बदले 'कष्ट सहकर भी जीने' में काव्य की दृष्टि से आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है। 'मरकर भी जीना' बुद्धि को अग्राह्य है, पर अभिधा की इसी अग्राह्यता में काव्य का वास्तविक अर्थ-बोध है—इसे कौन अस्वीकृत करेगा? काव्य में कुछ ऐसे प्रयोग भी लक्षणा के आधार पर टिके हुए हैं, जो बुद्धि के लिये अग्राह्य रहकर भी भाव-संचरण में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। 'अमुक

---

१. इस उक्ति से कुछ भ्रम हो जाने की सम्भावना है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि व्यंजना और लक्षणा को यदि अभिधा-वाच्यार्थ—का आधार नहीं मिले, तो उनसे वाणी का सौन्दर्य प्रकट नहीं हो सकता।

व्यक्ति का पार पाना कठिन है' या 'उसने मेरी बात काट दी'—
ऐसे प्रयोगों पर विचार करने से मालूम पड़ता है कि अमुक व्यक्ति
समुद्र तो नहीं है, किन्तु उसके व्यापार ऐसे हैं, जिनको अपनी
शक्ति के भीतर लाना कठिन है। किसीकी बात भी ऐसी कोई
वस्तु नहीं होती, जो तलवार या चाकू से काटी जा सके, पर ऐसे
प्रयोग का अर्थ इतना ही है कि जैसे किसी वस्तु को काट देने से
उसके एक दूसरे हिस्से का जो अविच्छिन्न सम्बन्ध है, उसका
विच्छेद हो जाता है, उसी प्रकार किसी बात से उसके अनुसारी
परिणाम या कार्य का जो सम्बन्ध है, वह नहीं रहता।

शब्द-शक्ति के चमत्कार से बुद्धि की अग्राह्यता पर जो
आनन्द प्राप्त होता है, उसका एक दूसरा पहलू भी है। काव्य में

अर्थ-बोध और हेत्वाभास

इसे हेत्वाभास कह सकते हैं। किसी भी कार्य
का जो कारण दिया जाता है, वह मूलतः किसी
कारण के रूप में नहीं रहता। इससे अर्थ-बोध
की दो भिन्न सत्ताएँ मालूम पड़ती हैं, किन्तु स्थिति की प्रधानता
के कारण एक सत्ता को प्रधान मान लेने पर, दूसरी सत्ता स्वतः
गौण हो जाती है और पाठकों को एक अभिनव रस का आस्वादन
करा देती है। 'साकेत' की उर्मिला, लक्ष्मण के विरह से सन्तप्त
होकर, चौदह वर्ष के वनवास की अवधि को अपनी स्थिति के रूप
में मिटाकर, लक्ष्मण से मिलने की कामना करती है। चौदह वर्ष
की अवधि, काल के स्वाभाविक संक्रमण के रूप में बीतेगी, लेकिन
उर्मिला को ही यदि अवधि बनने की शक्ति मिली होती, तो वह
क्षण-भर में ही चौदह वर्ष की अवधि बनकर समाप्त हो जाती।
इस समाप्ति के बाद भी वह लक्ष्मण से मिलने की उत्कण्ठा रखती

है। बुद्धिवादी यहाँ तर्क कर सकते हैं कि यदि उर्मिला चौदह
वर्ष की अवधि बनकर स्वयं ही मिट जाती है, तो फिर लक्ष्मण से
मिलन का सौभाग्य उसे प्राप्त होगा ? जब तक वनवास की
अवधि पूरी नहीं होती, तब तक लक्ष्मण से मिलन भी सम्भव
नहीं। अवधि बीत जाने पर ही उर्मिला का सौभाग्य चमक सकता
है। किन्तु उर्मिला स्वयं अवधि बनकर मिट जाने को तैयार है।
अर्थ के बाहरी आवरण को देखकर, उर्मिला की यह कामना बड़ी
असङ्गत मालूम पड़ती है; किन्तु इसके आन्तरिक अर्थ पर ध्यान
देने से यह मालूम होता है कि उर्मिला को लक्ष्मण के मिलन की
इतनी व्यग्र उत्कण्ठा है कि वह अपने अस्तित्व को भी विलुप्त करने
के हेतु प्रस्तुत है। बुद्धिवाद के लिये इस प्रसङ्ग में स्थान नहीं रहता।
काव्य की रागात्मक प्रतीति का महत्त्व यहाँ इतना बढ़ा हुआ है
कि लक्ष्मण का मिलन, उर्मिला के अस्तित्व के मूल्य से बढ़ा हुआ
है। हेत्वाभास के रूप में ऐसी असङ्गति का काव्य में कुछ कम
प्रयोजन नहीं रहता।

वाणी पर मनो-विकार का प्रभाव और अर्थ-बोध

काव्य के अर्थ-बोध के सम्बन्ध में एक दूसरे पक्ष पर भी
विचार करना है। वाणी पर जब मनोविकारों का प्रभाव पड़ता है,
तब उसमें स्वतः ताल और स्वर उत्पन्न होने
लगते हैं। यह ताल और स्वर भी अर्थ-बोध की
दृष्टि से काव्य के पद के समान ही महत्त्वपूर्ण
हैं; क्योंकि भिन्न-भिन्न मनोविकार प्रेम, हास,
द्वेष, आनन्द, आश्चर्य आदि को व्यक्त करने के लिये मनुष्य को
अपनी वाणी में थोड़ा-बहुत स्वर-ताल का अन्तर देना पड़ता है।
मनोविकारों की इस स्वाभाविक गति ने विकसित होकर सङ्गीत-

शास्त्र के विधान में बड़ी मदद पहुँचाई है। गान को जब पद का रूप दिया जाता है, तब पद का महत्त्व बढ़ नहीं जाता, गान का लक्ष्य पद नहीं रहता, प्रत्युत् वह अर्थ-बोध के द्वारा मधुरता उत्पन्न करने का साधन-मात्र रहता है। जहाँ पद की पहुँच नहीं होती, वहीं स्वर के कार्य का आरम्भ होता है। अज्ञेय तथा सूक्ष्म भाव को विशद तथा तीव्र रूप में प्रकट करने की शक्ति गान में पाई जाती है। पदों के साधारण अर्थ को विशेष रूप से प्रभावशाली बनाने के लिये स्वर के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

काव्यगत प्रभाव को विशेष क्षमताशाली बनाने के अभिप्राय से ही छन्दों का विधान किया गया है। धनुष पर चढ़कर जिस

राग से पद की शक्ति-वृद्धि

प्रकार वाण अधिक शक्ति-सम्पन्न और तीव्र वन जाता है, उसी प्रकार राग के द्वारा पद विचित्र आकर्षण और शक्ति प्राप्त करता है। अपने सामर्थ्य के बल पर जहाँ तक पद नहीं पहुँच सकते, राग की सहायता से वे उस अज्ञात स्थान तक भी पहुँच जाते हैं। राग में मिलकर पद अपने वास्तविक अर्थ का प्रतिपादन करने लगता है। ध्वनि-सामञ्जस्य के कारण छन्द-बद्ध पदों से एक प्रकार का विद्युत् प्रकाशित होने लगता है, जो हृदय को विमुग्ध कर देता है। काव्य और राग के विषय में इतना मानना पड़ेगा कि पहले तो राग को काव्य के अधीन रहना पड़ेगा, किन्तु जब राग की शक्ति विकसित हो जायगी, तब काव्य उसके तत्त्वावधान में आ जायगा।

हृदय का भाव जब अपनी अकर्मण्यता को छोड़कर आनन्द और उत्साह से कर्मण्य बनकर जागरित होता है, तब उसके कार्य-क्षेत्र का स्वरूप निश्चित होता है और फिर वह जगत् की समस्त

अविच्छिन्न वस्तु के संधान की इच्छा करता है। इस प्रकार
वह भाव असीम की ओर जाने के लिए चेष्टा करता है। असीम
से ससीम की ओर भाव-धारा के प्रवाहित होने

असीम तथा ससीम सत्य और अर्थ-बोध

से काव्यगत सत्य की प्रतिष्ठा होती है और तभी
वह अपना अर्थ-बोध भी देता है। इस प्रकार
की भाव-धारा सदा नियन्त्रित रहती है। नियन्त्रण के अभाव में
सत्य का स्वरूप प्रकट नहीं किया जा सकता। जगत् के विस्तृत
क्षेत्र में जा-कुछ है, वह सब सत्य है, किन्तु उसके द्वारा काव्य में
हम सत्य की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते। जगत् का जो अर्थ-बोध
है, वह जितना रहस्य-पूर्ण है, उतना रहस्य-पूर्ण रहने से काव्य के
अर्थ-बोध की समस्या हल नहीं हो सकती। अपरिमित से
निकलकर जब हम परिमित की ओर आते हैं, तभी हम काव्य में
सत्य की प्रतिष्ठा द्वारा अर्थ-बोध दे सकते हैं। अपरिमित में
सत्य नहीं रहता, ऐसा कहना भ्रम-पूर्ण ही नहीं है, प्रत्युत्
अपनी परिमित शक्ति के कारण सत्य को देखने की हमारी अक्षमता
भी है। परिधि के अन्तर्गत आये हुए सत्य से इतनी अधिक
रमणीयता उत्पन्न होती है कि वह हमारे हृदय को बरबस
आकर्पित करती है। समुद्र में नमक है, यह तथ्य अस्वीकार नहीं
किया जा सकता ; किन्तु एक चुल्लू समुद्र का पानी लेकर यदि
कहा जाय कि यह चुल्लू-भर नमक ही है, तो पूर्णरूप से असत्य न
होकर भी यह कथन वस्तुस्थिति से बहुत दूर ही रहेगा। अपरि-
मित को छोड़कर जब सत्य अपने सङ्कुचित रूप में, काव्य की एक
परिधि के अन्तर्गत आकर, पुनः विस्तृत होने लगता है, तब उससे
अपने परिचय के कारण हम अभिनव आनन्द प्राप्त करते हैं।

समुद्र के खारे जल से नमक बनाकर जब हम मीठे पानी में घोलते हैं, तब स्वाद के रूप में हमको अपनी चेष्टा का ही परिणाम मिलता है। इसी प्रकार समुद्र के जल का जो सत्य है, वह तब तक स्पष्ट रूप से अपना अर्थ-बोध नहीं देता, जब तक हम उसको एक परिधि के भीतर लाकर पुनः विस्तृत होने के लिए उसे छोड़ नहीं देते।

मनुष्य को साधारणतः अपनी वृत्ति, संस्कार या विचार-पद्धति के अनुकूल ही काव्य का बोध होता है। नवीन और तीव्र अनुभूतिपूर्ण काव्य के मर्म को समझने के लिए केवल विद्वत्ता या उच्च शिक्षा की अपेक्षा नहीं रहती, अभिव्यक्त करनेवाले हृदय के साथ जिसकी पूर्ण सहानुभूति रहेगी, वही उस कविता के मर्म को अच्छी तरह समझ सकता है। जो कवि के लिए कुछ सहानुभूति नहीं रखता, वह उसकी कृति के साथ न्याय भी नहीं कर सकता। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनकी ग्रहण-शक्ति और भाव-व्यञ्जना-शक्ति बड़ी निम्न कोटि की होती है। उनकी प्रसन्नता और विषण्णता सर्वदा अतिशय मात्रा में हुआ करती है। इस प्रकार की मनोरचनावाले व्यक्ति निर्बल मानसिक शक्ति के होते हैं। उनके चित्त पर किसी साधारण बात का प्रभाव भी तीव्र रूप में पड़ता है। इसका कारण यह होता है कि ऐसे व्यक्ति को विचार करने की क्षमता नहीं होती। किसी की बात को धैर्य-पूर्वक सुनने पर; विचार करने की क्षमता के अभाव में, वे तत्काल भावावेग से क्रियाशील हो जाते हैं। कवि अपने ऐसे पाठक या श्रोता को— जो कोई भी हों—काव्य के अर्थ-बोध के सम्बन्ध में स्थिति स्पष्ट नहीं करा सकते। कुछ कवि यही समझकर प्रसन्न होते हैं कि

मेरी रचनाओं के समझनेवाले बहुत थोड़े हैं। वे अपने अस्पष्ट भाव को गम्भीर भाव समझते हैं। संस्कृत-साहित्य में ऐसे बहुत कवि हो गए हैं और 'वेद्यः सहृदयैरयम्'—जो सहृदय हैं वे ही इसे समझ सकते हैं—कहकर उन्होंने अपने पक्ष का समर्थन भी किया है। ठीक इसके विपरीत कहनेवाले भी हैं, जो 'वक्तुरेवहिदोषः स्याद् यत्र श्रोता न बुध्यते' श्रोता के कुछ न समझने पर वक्ता को ही दोषी बताते हैं। दोनों पक्षों में चाहे जितनी यथार्थता रहे, किन्तु इतना तो निश्चित है कि यदि कला अपनी स्थिति में स्पष्ट न रहे, तो वह अपना अर्थ-बोध नहीं दे सकती।

छठा अध्याय

काव्य की प्रेरणा-शक्ति

जीवन और उसका रहस्य

जीवन क्या है, यह एक ऐसा विषय है, जिस पर विवेचन तो बहुत हुआ, किन्तु कोई एक निश्चित विचार अब तक प्रतिपादित नहीं किया जा सका। यदि जीवन और उसका उद्देश्य समझ लिया जाय, तो उसकी गतिविधि का भी दिशा-ज्ञान हो जा सकता है। मानव-जीवन एक ही साथ सामान्य और विशेष भी है। सामान्य इस दृष्टि से कि चित्त की जितनी वृत्तियाँ हैं, उनकी चेष्टाएँ प्रायः सब में एक रूप हैं और विशेष इस विचार से कि प्रत्येक मनुष्य अपना कुछ निजत्व तथा व्यक्तित्व रखता है। यदि ऐसा न होता, तो असंख्य में एक की गणना सम्भव न होती। वैयक्तिक मनो-विज्ञान मनुष्य के समस्त जीवन का निरीक्षण अपने दृष्टिकोण से करता है। इस मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य अपने जीवन को जिस भाव से देखता है और उसका जो प्रयोजन समझता है, उसी का साक्षी उसके जीवन का प्रत्येक कर्म होता है। यह एक तथ्य है कि लोग अपने कामों का समर्थन अपने भावों से करते पाये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी को प्यार करता है, तो

उसके प्रति सभी कामों में उसी भाव की छाप लगी रहती है। घृणास्पद् के प्रति प्रत्येक कर्म के मूल में तदनुकूल भाव ही अङ्कित रहते हैं। मनुष्य के भाव उसके मूल दृष्टिकोण से सदैव सङ्गति रखते हैं। यदि ऐसा न हो तो मनुष्य का कोई काम शृङ्खलाबद्ध तथा युक्तिसङ्गत नहीं माना जा सकता।

जीवन का ध्येय—आत्म-विस्तार

साधारणतः मनुष्य अपने जीवन का ध्येय लौकिक धन-सम्पत्ति, मान-मर्यादा, यश-प्रतिष्ठा, सुख-विलास, पुत्र-सन्तान आदि ही समझता है। इससे अधिक सोचने की न उसे चिन्ता है, न अवकाश और न इच्छा ही। जीवन की ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य की इन्द्रियों की बनावट भी वाह्यमुखी है। उनके छिद्र वाहर की ओर हैं[1]। वे सहज ही अन्तर्मुखी नहीं हो सकतीं। अतः अपनी अन्तरात्मा के बदले सांसारिक विषयों की ओर वे अधिक प्रलुब्ध रहती हैं। स्वाभाविक रूप से मनुष्य का जीवन जैसा है, उससे निवृत्ति चाहना उसका पारलौकिक उद्देश्य हो जाता है। आध्यात्मिक लक्ष्य—परलोक—को प्राप्त करने के लिए जीवन—लोक—एक साधन-मात्र बन जाता है और ऐसी दशा में जीवन की परिधि लोक में सीमित न रहकर वृहत्तर—उससे भी वढ़कर असीम—हो जातो है। यही कारण है कि मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व की आकाँक्षा करता है; क्योंकि उससे आत्म-विस्तार की प्रेरणा उत्पन्न होती है। औसत मनुष्य को अपने

१. परांचि खानि व्यतृणत्स्वंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नांतरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
—कठोपनिपद्, २।१

जीवन का न तो कोई अर्थ मालूम होता है और न उसके किसी गूढ़ोद्देश्य का पता रहता है। साधारणतः, विचार-बुद्धि का स्पष्ट सम्बन्ध न रखता हुआ ही उसका जीवन-व्यापार चलता है। मनोविश्लेषण से भी यह बात सिद्ध होती है[1]। जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में, काम अपने साथ

विषयानन्द और ब्रह्मानन्द

अर्थ तथा धर्म को समेटता हुआ जीवन के विविध व्यापारों का प्रेरक है और मोक्ष जीवन का निवृत्ति-मूलक लक्ष्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन के दो मुख्य ध्येयों में काम विषयानन्द का तथा मोक्ष ब्रह्मानन्द के प्रतीक हैं[2]। संयमित काम अपना विकास दाम्पत्य या पारिवारिक जीवन में पाता है और उससे बढ़कर भी वह जीवन की लोकान्तर्गत परिधि के भीतर ही रहकर व्यापार करता है। इस काम के पोषण तथा नियन्त्रण के लिए अर्थ और धर्म की प्राप्ति वाञ्छनीय समझी जाती है। इस प्रकार काम

---

१. Among my patients from many countries, all of them educated persons, there is a considerable number who came to see me, not because they were suffering from a nucurosis, but because they could find no 'meaning of life' or were torturing themselves with questions which neither present day philosophy nor religion could answer......I too had no answer to give.

C. G. Jung—Modern Man In Search Of A Soul. PP—266-7

२. शाङ्करमत के यशस्वी प्रतिपादक विद्यारण्य स्वामी ने अपनी 'पञ्चदशी' में आनन्द के कई वर्ग ब्रह्मानन्द, निजानन्द, विद्यानन्द, विषयानन्द, वासनानन्द आदि किये हैं। आनन्द का यह वर्ग-प्रपञ्च वस्तुतः कोई सार वस्तु नहीं है। उनकी दृष्टि में भी इसका विभाजन केवल तर्क के प्रयोजन के लिए ही है। उन्होंने लिखा है :—

धर्म, अर्थ तथा काम के रूप में—त्रिवृत् हो जाता है और भक्ति, योग तथा मोक्ष के समन्वय से मोक्ष भी इसी प्रकार एक दूसरे त्रिवृत् में आ जाता है।

भोग-लालसा और उसके स्थूल तथा सूक्ष्म रूप

मनुष्य की भोग-लालसा अपने जीवन-पर्यंत ही सीमित नहीं रहती। वह अपनी लालसा का विकास-सूत्र अपने पुत्र-पौत्रादि तक बढ़ाना चाहता है। स्थूल भोग के बाद सूक्ष्म भोग से ही मनुष्य की परितृप्ति होती है। चिरकाल तक शाश्वत कीर्ति को प्राप्त करने के लिए कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन का मोह भी छोड़ देने के लिए तत्पर हो जाता है, किन्तु ऐसी स्थिति में भी वस्तुतः जीवन का मोह छोड़ा नहीं जाता। स्थूल जीवन के बाद विश्व में अपने सूक्ष्म जीवन का अस्तित्व कीर्ति के रूप में वह चाहता ही है। ऋग्वेद-जैसे प्राचीन ग्रन्थ में भी ऋषियों ने शाश्वत

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यम्।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्द स्वयं प्रभः॥

—पञ्चदशी, ११, ८८

स्वयं-प्रकाश ब्रह्मानन्द ही विषयानन्द तथा वासनानन्द को उत्पन्न करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् (२, ५) के भाष्य में शङ्कराचार्य ने—'आनन्द इति परंब्रह्म। तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादि विषय विशेषोयाधावन्तः करण वृत्ति विशेषे तमसा प्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यंजते। तद्विषय सुखमिति प्रसिद्धं लोके।' आनन्द परब्रह्म का ही वाचक है। वही शुभ कर्म द्वारा प्रस्तुत किये हुए पुत्र-मित्रादि विशेष विषय ही जिसकी उपाधि है, उस प्रसन्न अन्तःकरण के वृत्ति-विशेष में, जब कि वह तमोगुण से आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है। वह लोक में विषय-सुख के नाम से प्रसिद्ध है—लिखकर विषयानन्द की लौकिक प्रधानता स्वीकृत की है।

जीवन को प्राप्त करने की प्रार्थना की है—हे इन्द्र, तू हमें अक्षि-तश्रव अर्थात अक्षय कीर्ति या धन दे (ऋ० १, ९, ७) हे सोम, तू मुझे वैवस्वत (यम) यमलोक में अमर कर दे (ऋ० ९, ११३,८)। चिरकालिक भोग की यह कामना ही मनुष्य की स्वाभाविकता है। हमारी लोक-कल्याणकारी प्रवृत्ति के मूल में भी यही भोग-लालसा छिपी हुई है। मनुष्य सत्कर्म के नाम पर अनेक कष्टों का सहन करता है, जन-कल्याण के नाम पर जीवनोत्सर्ग तक कर देता है और ऐसे उत्सर्ग का, कभी-कभी, किसी महत्तर उद्देश्य से ही ढोल भी पिटवाया नहीं जाता, किन्तु इसके भीतर बहुत छानबीन करने पर, अत्यंत प्रच्छन्न और क्षीण रूप से ही, एक भावना रहती है, जो अपने कष्ट, उत्सर्ग आदि का अनुमोदन चाहती है। यदि यह अनुमोदन या स्वीकृति न मिले तो उत्सर्ग का कोई अर्थ भी नहीं समझा जाता। यदि मनुष्य अपने को प्यार नहीं करे, तो जीवन में उसे कोई सौन्दर्य नहीं मालूम होगा। उससे कुछ भी लोकोपकारी कार्य नहीं हो सकेगा। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—अपने लिए ही पति, पत्नी, पुत्र, वेद, धन लोक आदि सब प्रिय मालूम पड़ते हैं[1]। जगत् के किसी भी प्राणी

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में इस तथ्य का बड़ा रमणीय प्रतिपादन किया गया है—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवंत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवंत्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां

या पदार्थ में जबतक अपनी सत्ता का कोई चिह्न न मालूम हो, तब तक उसको प्राप्त करने, उसके संरक्षण या उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का भी भाव हृदय में उत्पन्न नहीं होता।

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ तीनों की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं। स्वार्थ के बिना व्यक्ति का जीवन-धारण असम्भव है, परार्थ के बिना समाज-विधान अनिश्चित है और परमार्थ के अभाव में लोक-कल्याण की भावना का विकास ही नहीं हो सकता। जीवन के पोषण, वर्द्धन तथा विकास के सभी तत्त्व हृदय की वृत्तियों के रूप में वर्त्तमान हैं। स्वार्थ व्यक्तिवाद का उत्पादक है और परार्थ समाजवाद की स्थापना करता है। इन दोनों से बढ़कर परमार्थ है, जो हमारी दृष्टि की परिधि को विस्तृतकर विश्वबन्धुत्व की सीमा पर पहुँचा देता है। मूल रूप में मनुष्य स्वार्थी है, इसी कारण परार्थ और परमार्थ के अन्तर्गत कहीं-न-कहीं स्वार्थ अवश्य छिपा बैठा पाया जाता है। जबतक स्वार्थ की प्रेरणा न हो तबतक जीवन में कोई क्रिया, कोई द्वंद्व लक्षित नहीं होता। महत् प्रेरणा-शक्ति पाने के लिए महापुरुष भी स्वार्थ मानकर ही परार्थ का सम्पादन करते हैं[1]। मनुष्य की यह उत्कोच-प्रियता स्वाभाविक है, चाहे वह स्थूल रूप में हो या सूक्ष्म में। भूमि, द्रव्य, वस्तु

कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

—बृह० उप०, ४, ५, ६,।

१. स्वार्थोहि यस्य परार्थः स एव अग्रणी पुमान्।

—भर्तृहरि

आदि की प्राप्ति स्थूल स्वार्थ है और यश, प्रशंसा, कीर्त्ति आदि सूक्ष्म स्वार्थ हैं। स्थूल से सूक्ष्म सदा तीव्र तथा व्यापक होता है। भारतीय भावना के अनुसार यशाकाँक्षी महत् माना जाता है, क्योंकि उससे लोक-कल्याण की सम्भावना बहुत बनी रहती है। जो यश का इच्छुक है उसके व्यापार भी वैसे ही होंगे जिनसे लोक की सुख-समृद्धि बढ़े। यश-लिप्सा में आसक्ति कुछ बढ़ी रहती है, किन्तु इसका अतिरेक न किया जाय तो घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। घबड़ाने और चिन्ता करने की बात तब हो जाती है, जब जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए यश तथा प्रशंसा के व्यापार चलाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-गत स्वार्थ तो प्रधान लक्ष्य रहता है, किन्तु अपने जीवन की सुगमता को दूसरों से ठगकर लेने के लिए लोक-कल्याण का आवरण ओढ़ लिया जाता है। स्वार्थ की यह असाधु प्रकृति है।

सद्प्रवृत्ति की भी एक मर्यादा मानी गई है। यदि परार्थ या परमार्थ को ही जीवन-लक्ष्य मान लिया जाय, तो गति आगे नहीं बढ़ सकती। परार्थ या परमार्थ के साधन के लिए अपने अस्तित्व की रक्षा स्वार्थ पर ही टिकती है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—सब धर्मों का साधन शरीर ही है। किन्तु प्रश्न है पूँजी के उपयोग का। अपनी पूँजी की रक्षा करते हुए लोक-कल्याण में प्रवृत्त होना धर्म-संगत है और प्रकृति-संगत भी। किसी भी बात की अति न हो, इसको बचाने के लिए मध्यम मार्ग पकड़ना चाहिए। जिस बात, जिस उपाय से अधिकाँश

स्वार्थ—जीवन का प्रेरक और समाज-शास्त्र

लोक का अधिकतम कल्याण हो, वही सत्य है[1]। इस भारतीय भावना की पश्चिमी प्रतिध्वनि, मिल के उपयोगितावाद[2] के रूप में हुई। व्यक्ति-भेद की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के जातीय संस्कार भिन्न-भिन्न ही बने रहे। भारतीय मनुष्यत्व त्रिमूर्त्यात्मक है। उसमें पति, पत्नी तथा सन्तान तीनों के समन्वित अवयव की भावना समाज का विधान करती है; परन्तु पश्चिमी समाज-शास्त्री व्यक्तिगत सत्ता को ही समाज का आरम्भक अणु मानते हैं। भारतीय जीवन की यह विशेषता उसकी संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान, वैराग्य, मित्रता, शत्रुता आदि सब में पाई जाती है। पूर्व और पश्चिम के मूल में जो अन्तर है, वह दोनों की विस्तार-परिधियों में भी स्पष्ट है। ऋष्टि-कल्प भारतीय सामाजिकता समस्त मानवता को अंगीभूत कर लेती है, लेकिन पश्चिमी सामाजिक भावना राष्ट्र के क्षितिज के बाहर न जा सकी हैं।

संेंद्रिय जीव की आवश्यकताएँ—प्रसव तथा पोपण

समस्त सेंद्रिय जीव को दो आवश्यकताएँ सदा रहती हैं—प्रसव और पोषण। प्रसव के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित होता है और पोषण के लिए जीवन में द्वंद्व करना पड़ता है, एक दूसरे का संहार होता है। जीवन की सारी विविधताएँ इन दोनों तत्त्वों पर केंद्रित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त जीवन में जो भावनाएँ, जो आकाँक्षाएँ होती हैं और मानी

---

१. आश्रयेन मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्।
यल्लोकहितमत्यंतं तत्सत्यमिति न श्रुतम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व

२. Mill—Utilitarianism.

जाती हैं, वे भी प्रसव तथा पोषण के नाना रूपान्तर ही मानी जा सकती हैं। अस्तित्व की रक्षा और विकास की दृष्टि से जीवन में अगणित पाप-पुण्य का सृजन-विसर्जन करना पड़ता है। अस्तित्व का निश्चय होते ही उसकी वृद्धि तथा विकास की चिन्ता होती है। अपने पाँवों पर अच्छी तरह खड़ा होने के पहले ही, बालक चलने की चेष्टा करने लगता है। आत्म-विस्तार की यह भावना मनुष्य के प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म में रहती है। व्यापक रूप से जो अपना आत्म-विस्तार करता है, वह चराचर में एक आत्मरूप देखता है। समस्त मानव-समाज को विश्व-बन्धुत्व की भावना से देखना, यही दृष्टिकोण है। जिसमें हृदय की इतनी विशालता नहीं होती, वह एक छोटी-सी मानव-परिधि के भीतर ही क्षमा, दया, स्नेह, कृपा, त्याग, उपकार आदि के द्वारा अपने अस्तित्व की सत्ता को दूसरों पर प्रत्यक्ष कर अपनी वृद्धि और व्यापकता का विस्तार करता है।

अनेकता में एकता-काव्यदृष्टि

काव्य में मनुष्य अपने आत्म-विस्तार के द्वारा समस्त मानवता को एक सामान्य कोटि के भीतर लाता है। "अविभक्तं विभक्तेषु"—अनेकता में एकता देखना, काव्य की अपनी दृष्टि है। साधारणीकरण का यही काव्य-गत तात्पर्य है। एक जीवन में जो भावनाएँ, कल्पनाएँ, संकल्प, विकल्प हैं, वे दूसरों में भी प्रायः उसी प्रकार क्रियाशील रहते हैं। जितने नैसर्गिक भाव हैं, वे आत्म-विस्तार की भावना से ही उत्थित होते हैं और जितने बुरे भाव हैं, वे आत्म-संकोच करते हैं।

पाप एक अनुभव है, किन्तु पुण्य एक शक्ति है। क्रोध

लोक का अधिकतम कल्याण हो, वही सत्य है[1]। इस भारतीय
भावना की पश्चिमी प्रतिध्वनि, मिल के उपयोगितावाद[2] के रूप में
हुई। व्यक्ति-भेद की दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के जातीय
संस्कार भिन्न-भिन्न ही बने रहे। भारतीय मनुष्यत्व त्रिमूर्त्यात्मक
है। उसमें पति, पत्नी तथा सन्तान तीनों के समन्वित अवयव
की भावना समाज का विधान करती है; परन्तु पश्चिमी समाज-
शास्त्री व्यक्तिगत सत्ता को ही समाज का आरम्भक अणु मानते
हैं। भारतीय जीवन की यह विशेषता उसकी संस्कृति, सभ्यता,
ज्ञान, वैराग्य, मित्रता, शत्रुता आदि सब में पाई जाती है।
पूर्व और पश्चिम के मूल में जो अन्तर है, वह दोनों की विस्तार-
परिधियों में भी स्पष्ट है। ऋष्टि-कल्प भारतीय सामाजिकता
समस्त मानवता को अंगीभूत कर लेती है, लेकिन पश्चिमी
सामाजिक भावना राष्ट्र के क्षितिज के बाहर न जा सकी हैं।

सेंद्रिय जीव की आवश्यकताएँ— प्रसव तथा पोषण

समस्त सेंद्रिय जीव को दो आवश्यकताएँ सदा रहती हैं—
प्रसव और पोषण। प्रसव के लिए एक दूसरे का सहयोग
अपेक्षित होता है और पोषण के लिए जीवन
में द्वंद्व करना पड़ता है, एक दूसरे का संहार
होता है। जीवन की सारी विविधताएँ इन दोनों
तत्त्वों पर केंद्रित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त
जीवन में जो भावनाएँ, जो आकाँक्षाएँ होती हैं और मानी

---

१. आश्रयेन मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्।
यल्लोकहितमत्यंतं तत्सत्यमिति न श्रुतम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व

२. Mill—Utilitarianism.

जाती हैं, वे भी प्रसव तथा पोषण के नाना प्रकारों की मानी जा सकती हैं। अस्तित्व की रक्षा और विकास की दृष्टि से जीवन में अगणित पाप-पुण्य का सृजन-विसर्जन करना पड़ता है। अस्तित्व का निश्चय होते ही उसकी वृद्धि तथा विकास की चिन्ता होती है। अपने पाँवों पर अच्छी तरह खड़ा होने के पहले ही, बालक चलने की चेष्टा करने लगता है। आत्म-विस्तार की यह भावना मनुष्य के प्रत्येक विचार, प्रत्येक कर्म में वर्तमान है। व्यापक रूप से जो अपना आत्म-विस्तार करता है, वह चराचर में एक आत्मरूप देखता है। समस्त मानव-समाज को विश्व-बन्धुत्व की भावना से देखना, यही दृष्टिकोण है। जिसमें हृदय की इतनी विशालता नहीं होती, वह एक छोटी-सी मानव-परिधि के भीतर ही क्षमा, दया, स्नेह, कृपा, त्याग, उपकार आदि के द्वारा अपने अस्तित्व की सत्ता को दूसरों पर प्रकट कर अपनी वृद्धि और व्यापकता का विस्तार करता है।

काव्य में मनुष्य अपने आत्म-विस्तार के द्वारा समस्त मानवता को एक सामान्य कोटि के भीतर लाता है। "अविभक्तं विभक्तेषु"—अनेकता में एकता देखना, काव्य की अपनी दृष्टि है। साधारणीकरण का यही काव्य-गत तात्पर्य है। एक जीवन में जो भावनाएँ, कल्पनाएँ, संकल्प, विकल्प हैं, वे दूसरों में भी प्रायः उसी प्रकार क्रियाशील रहते हैं। जितने नैसर्गिक भाव हैं, वे आत्म-विस्तार की भावना से ही उत्थित होते हैं और जितने बुरे भाव हैं, वे आत्म-संकोच करते हैं।

अनेकता में एकता-काव्यदृष्टि

पाप एक अनुभव है, किन्तु पुण्य एक शक्ति है। क्रोध

और लोभ के ही तात्त्विक स्वरूप के विश्लेषण से इसका पता चल सकता है। अपने दुख के किसी सजीव कारण को जानकर उसके प्रति मन में जो विकार पैदा होता है, उसे क्रोध कहते हैं। अपने दुख से, अपनी हानि के कारण, हम दूसरों पर उबल पड़ते हैं और इस प्रकार क्रोध से हम अपने अस्तित्व को यथावत् रखने की चेष्टा करते हैं। क्रोध का एक और स्वरूप है, जो अधिक विस्तृत तथा व्यापक होता है। अपनी व्यक्तिगत कुछ हानि न होने पर भी लोक-कल्याण की दृष्टि से दुष्टों पर क्रोध किया जाता है। ऐसा क्रोध दैवी सम्पद् है, किन्तु वहाँ भी लोक-कल्याण के साथ आत्म-सम्बन्ध लगा हुआ है। यदि लोक में अपना आत्म-विस्तार न किया जाय, तो उसके कल्याण की भावना ही कैसे उठ सकती है! क्रोध का यह सात्विक रूप जगत् में दुर्लभ रहता है। लोभ अपने जीवन की रक्षा तथा पोपण के लिए किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा है। ऐसी इच्छा संकुचित समझी जाती है, पर होती है बड़ी बेगवती। जगत् के कल्याण के लिए भी किसी वस्तु को प्राप्त करने का लोभ होता है, पर ऐसा लोभ तो विशेषतः दुर्लभ है। क्रोध और लोभ के आलम्बन में चेतन और जड़ का भेद आवश्यक है। जड़ पर क्रोध व्यञ्जित करना जड़त्व का सूचक है और चेतन पर लोभ करना प्रेम का परिचायक। इस प्रकार क्रोध और लोभ के विश्लेपण से उसके दोनों पक्ष दिखाई पड़ते हैं। जितने भी बुरे भाव हैं ओर जो शास्त्रीय पद्धति से षड्रिपु के नाम से पुकारे जाते हैं, उनका उपयोग भी देश-काल-पात्र के अनुसार मंगलमय किया

प्रत्येक भाव के दो पक्ष

जा सकता है और अच्छे भावों का भी दुरुपयोग तदनुकूल हो सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर के ; राग और द्वेष की दृष्टि से, दो विभाग हो जाते हैं ! काम, लोभ तथा मोह राग-पक्ष के और क्रोध, मद तथा मत्सर द्वेष-पक्ष के अन्तर्गत लिए जाते हैं। प्रकृति में आकर्षण और विकर्षण का जो नियम है, वही जीवन में राग और द्वेष के नाम से माना जाता है।

जीवन की व्यापकता और वाह्य प्रभाव से अपनी रक्षा

प्रत्येक मानव-हृदय की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी व्यापकता अधिकाधिक बढ़ावे और उसके साथ ही दूसरे के प्रभाव से अपने व्यक्तित्व की एकनिष्ठा बचाने की चेष्टा भी करता रहे। विस्तारण और संकोचन, आकर्षण और विकर्षण के मध्य में मनुष्य का जीवन प्रतिक्षण अतिवाहित होता है। अपने भाव, अपने विचार से दूसरों को व्याप्त कर अपनी मर्यादा के विकास की लालसा जितनी तीव्र रहती है, वाह्य प्रभाव से अपनी रक्षा की चिन्ता भी उससे कम नहीं होती। दूसरे के ऊपर अपना प्रभाव स्थापित करना, अपने अस्तित्व की विजय समझी जाती है। जो दूसरों का आकर्षण करता है, वह अपनी प्रतिष्ठा को भी निश्चित रखना चाहता है। जीवन का यह द्वंद्व बहुत क्षमताशील है। जो निर्बल है, अक्षम है वह अपने अस्तित्व की रक्षा, अपनी विशेषता की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। हापुरुष के व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंचकर, साधारण मनुष्य पने भाव-विचार को समर्पित कर देता है और इस प्रकार जीवन सारी कर्मण्यता को ही वह उसी आदर्श की ओर उन्मुख कर ा है। आत्म-विस्तार का यह आध्यात्मिक रूप है। जाति

और देश की बढ़ी-चढ़ी शिक्षा, सभ्यता, संस्कार, शक्ति आदि के कारण कोई जाति तथा देश अपने विशेषत्व का निर्वाह नहीं कर सकते और अन्त में इच्छा या अनिच्छा से उन्हें आत्म-समर्पण करने को वाध्य होना पड़ता है। महत्त्वाकाँक्षा की प्रवृत्ति रहने पर भी सब में वैसी मनीषिता नहीं होती।

साधारण जीवन और नियम-विधान

साधारण जन अपने जीवन की गति-विधि के लिए ऐसा कुछ बना-बनाया नियम चाहता है, जो उसे दिशाच्युत होकर इधर-उधर भटकने न दे। सब के पास न गवेषणा की शक्ति रहती है और न नियम-विधान की पर्याप्त बुद्धि। नियम भी स्वतः पूर्ण नहीं होता। उसे भी अपनी स्थिति के लिये पिछले अनुभवों का आधार लेना पड़ता है। ऐसी दशा में यह आशा ही कैसे की जा सकती है कि प्रत्येक मनुष्य अपने व्यवहार के लिए कुछ-न-कुछ नियम बना लेगा। यदि ऐसा सम्भव होता तो जातीय जीवन में अभी जो एकरूपता देखने में आती है, वह नहीं दिखाई देती। जातीय जीवन की रक्षा के लिए मनुष्य की यह कृपा नहीं, उसकी असमर्थता है। उसे अपने अस्तित्व के लिए दूसरों का आधार लेना ही पड़ता है। आकाँक्षा, चिन्ता, वासना आदि से प्रताड़ित जीवन में मनुष्य सदैव अपनी विचार-शक्ति को स्थिर नहीं रख सकता। वह अतीत जीवन का कोई ऐस सूत्र चाहता है, जो उसका मार्ग-प्रदर्शन करने में समर्थ हो सके इस प्रकार मार्ग-प्रदर्शन के कठिन कर्म से अपनी शक्ति और ओ को वचाकर वह अपने जीवन तथा जगत् के द्वन्द्व में लगता है उसकी एक स्वाभाविक निर्वलता यह भी होती है कि वह अ

तर्क, निर्णय, विचार को सर्वांशतः पुष्ट तथा निर्विवाद नहीं समझता। इसी कारण बहुधा वह अपने निर्णय को आर्ष वचन के अनुकूल या किसी परम्परा से समर्थित समझाने की चेष्टा करता है। मनुष्य अपनी दुर्बलता को भी किसी सिद्धान्त या किसी महापुरुष के चरित्र-दोष की ओट दे देता है। जीवन की इसी असमर्थता से परम्परा चलती है और जातीय जीवन में एकरूपता आती है।

आत्म-विस्तार का प्रयत्न

मनीषी और क्षमताशील पुरुष को अपने आत्म-विस्तार में ही यथार्थ सुख मालूम पड़ता है। हमारी भावनाएँ जब दूसरे हृदय में पहुँचकर स्थान पाती हैं, रमण करती हैं, तब हमें आनन्द प्राप्त होता है। इसी प्रकार अपनी सत्ता को व्यापक बनाकर जगत् के अणु-परमाणु के साथ तादात्म्य कर देने से 'भूमा' सुख मिलता है। जीवन की यह परमावधि और अन्तिम लक्ष्य है। सृष्टि के साथ अपनी सत्ता के एकात्म्य का अनुभव ही सत्य है और उसी स्थिति में जगत् तथा मानवता के लिए आत्मोत्सर्ग करना सरल हो जाता है; क्योंकि उस समय व्यक्तित्व संकुचित नहीं, निस्सीम रहता है। मरण से भयभीत होने का कारण जीवन का मोह है, उसके अन्त की अनिच्छा है, किन्तु जब इस मोह का संकुचित आवरण हट जाता है, तब न वह मोह रहता है और न वह अनिच्छा ही बनी रह पाती है। अनन्त सत्ता के साथ अपने व्यक्तित्व को मिला देने में जीवन का अन्त नहीं होता, प्रत्युत् वह भी अनन्त ही हो जाता है। मृत्यु सीमा की होती है, असीम तथा अनन्त की नहीं। जीवन का पर। उद्देश्य ही अपने को अभिव्यक्त करना

नुभूति से गौण है, सिद्धान्त अनुभव से और बाह्य अभिव्यक्ति
अन्तर्वृत्ति से। काव्य जीवन-प्रकृति का अन्तर्दर्शन है, उसकी
अनुभूति है। यह अनुभूति कोई भावुकता-जन्य स्फूर्ति नहीं, न
कोई आध्यात्मिक कल्पना है, बल्कि अखण्ड मानव-जीवन के
व्यक्तित्व की अनुभूति है। इसी कारण काव्य किसी देश, जाति
या वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता। समस्त मानव-
जीवन की अनुभूति होने के कारण ही वह इतना व्यापक तथा
रस-ग्राह्य होता है।

जीवन की गहन अन्तर्वृत्ति के मूल में जो द्वन्द्व छिपा है, उसके
विवेचन से ही जगत् के नाना व्यापार की प्रेरणा है। बुद्धि

अन्तःकरण और चित्त

मनोवृत्तियों का नयन है, प्रेरक नहीं। मनुष्य
का कोई भी काम बुद्धि की शुद्धता के अभाव
में पवित्र नहीं हो सकता। मन और बुद्धि के
अतिरिक्त अन्तःकरण और चित्त शब्द भी ऐसे हैं, जिससे जगत् के
विधायकत्व का परिचय मिलता है। अन्तःकरण का अर्थ भीतर
की ओर है, अतः उसमें सामान्यतः मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार
आदि का समावेश हो जाता है। पर जब मन बाह्य विषयों का
ग्रहण या चिन्तन करने लगता है, तब वह चित्त हो जाता है[1]।

---

१. पातंजल योगदर्शन के अनुसार चित्त का अवस्थान इस प्रकार बताया
गया है—नाभि के ऊपर दश अंगुल परिमित देश में अष्टदल रक्त वर्णमाला
एक पंच छिद्र-युक्त कमल है। इसी का नाम हृदय-पद्म है। इस कमल
का मुख नीचे की ओर तथा उसकी मृणालिका ऊपर की ओर है। इस
अधोमुख पद्म को प्रथम रेचक प्राणायाम के अभ्यास से उदूर्ध्वमुख तथा प्रफु-
ल्लित किया जाता है। इस उदूर्ध्वमुख पद्म के मध्य में सूर्य-मण्डल 'अ'कार

त्राद्रव्य उत्पन्न होते हैं। यदि बुद्धि और अहंकार को निश्चेष्ट रहने दिया जाय, तो जगत् के विविध व्यापार की प्रेरणा भी निश्चेष्ट-सी पड़ी रहेगी। सूक्ष्म विश्लेषण से यह पता चलता है कि भाव भी बुद्धि की प्रतिक्रिया-मात्र है। ज्ञान ही हमारी सीमा है। मस्तिष्क में जबतक बाह्य जगत् का कुछ विकार उत्पन्न नहीं होता, तबतक मन में भी उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस प्रकार मानसिक विकार एक प्रतिक्रिया के रूप में ही उत्पन्न होता है[1]। जगत् और जीवन के व्यापार मुख्यतः मनुष्य की बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हैं।

व्यक्तिगत जीवन और प्रच्छन्न भाव

व्यक्तिगत जीवन की तात्त्विक विवेचना करने पर, बहुधा यह पता चलता है कि प्रिय-से-प्रिय मित्र के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ स्थित हैं, जो जान लेने पर, हमें उससे घृणा करने को बाध्य कर सकती हैं और परम-से-परम शत्रु के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ रहती हैं, जिनका पता यदि लग जाय तो हम उसे प्यार करने से अपने को रोक नहीं सकते। द्रव्य और भावना से निर्मित जीवन में समान तत्त्व की स्थिति से ही हमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व में भी मूल प्रकृति की एकरसता मालूम होती है। हमारे

---

१. बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनोगतिः ॥
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सामनः ॥
[म० भा० शांति० २५४]

बुद्धि ही आत्मा है। आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है। बुद्धि ही जब किसी विशेष भाव को पकड़ती है, तब मन हो जाती है।

अहंकार बुद्धि का ही एक भाग है। मानव-अहंकार का सूक्ष्म
यन्त्र, रचा ही इसलिए गया है कि मनुष्य इस विलक्षण पार्थक्य
और वैशिष्ट्य को दृढ़ तथा केन्द्रीभूत करे। मनुष्य में जो कुछ
है, अन्तःकरण और उसके धर्म, शरीर और उसके धर्म, सब उस
की प्रकृति से ही विहित है। व्यवसायात्मक बुद्धि तथा वास-
नात्मक बुद्धि, दोनों में एक गुण-समीक्षा करती है और दूसरी कर्म
की इच्छा उत्पन्न करती है।

मूल प्रकृति और इन्द्रियाँ

व्यवसायात्मक बुद्धि और अहंकार, दोनों व्यक्त गुण जब मूल
साम्यावस्था की प्रकृति में उत्पन्न हो जाते हैं, तब प्रकृति की एकता
बनी नहीं रह पाती और अनेक पदार्थों की
उत्पत्ति होने लगती हैं। जब इस प्रकार मूल
और अवयव-रहित एक ही प्रकृति में उन गुणों
का आविर्भाव होने लगता है, तब विविध और अवयव-सहित
द्रव्यात्मक व्यक्तरूप प्राप्त हो जाता है। मूल प्रकृति के अहंकार
के कारण, दो शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, जिनमें सेन्द्रिय प्राणी की
सृष्टि तथा निरिन्द्रिय पदार्थ बनते हैं। इस प्रकार अहंकार अपनी
शक्ति से जब भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब सत्त्व-
गुण के उत्कर्ष से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन—कुल
ग्यारह और तमोगुण के उत्कर्ष से निरिन्द्रिय सृष्टि के पाँच तन्मा-

---

तथा जाग्रत स्थान है; उसके ऊपर चन्द्र-मण्डल 'उ'कार तथा स्वप्न-स्थान
है, उसके ऊपर वह्नि-मण्डल 'म' कार तथा सुषुप्ति स्थान है। उसके भी
ऊपर आकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद तथा अर्द्धमात्र तुरीय स्थान हैं। हृदय-कमल
के बीज-कोश में उद्ध्वमुखी एक ब्रह्मनाड़ी है, जिसे सुष्मना कहते हैं। यही
चित्त का निवास-स्थान है।

त्राद्रव्य उत्पन्न होते हैं। यदि बुद्धि और अहंकार को निश्चेष्ट रहने दिया जाय, तो जगत् के विविध व्यापार की प्रेरणा भी निश्चेष्ट-सी पड़ी रहेगी। सूक्ष्म विश्लेषण से यह पता चलता है कि भाव भी बुद्धि की प्रतिक्रिया-मात्र है। ज्ञान ही हमारी सीमा है। मस्तिष्क में जबतक बाह्य जगत् का कुछ विकार उत्पन्न नहीं होता, तबतक मन में भी उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस प्रकार मानसिक विकार एक प्रतिक्रिया के रूप में ही उत्पन्न होता है[1]। जगत् और जीवन के व्यापार मुख्यतः मनुष्य की बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हैं।

व्यक्तिगत जीवन और प्रच्छन्न भाव

व्यक्तिगत जीवन की तात्त्विक विवेचना करने पर, बहुधा यह पता चलता है कि प्रिय-से-प्रिय मित्र के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ स्थित हैं, जो जान लेने पर, हमें उससे घृणा करने को बाध्य कर सकती हैं और परम-से-परम शत्रु के हृदय में भी कुछ ऐसी भावनाएँ रहती हैं, जिनका पता यदि लग जाय तो हम उसे प्यार करने से अपने को रोक नहीं सकते। द्रव्य और भावना से निर्मित जीवन में समान तत्त्व की स्थिति से ही हमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व में भी मूल प्रकृति की एकरसता मालूम होती है। हमारे

---

1. बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनोगतिः ॥
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सामनः ॥
[म० भा० शांति० २५४]

बुद्धि ही आत्मा है। आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है। बुद्धि ही जब किसी विशेष भाव को पकड़ती है, तब मन हो जाती है।

हृदय में जब कोई मनोविकार उत्पन्न होता है और उसका प्रभाव किसी दूसरे हृदय पर पड़ता है, तभी कोई प्रतिविकार उत्पन्न होता है। व्यक्तिगत जीवन के विकास में जिसकी इच्छा जितनी ही तीव्र होती है, वह व्यक्ति उसके अनुरूप ही उतना विशेष बनता है। महत् व्यक्तित्व और कुछ नहीं, महदिच्छा है। मनुष्य-जीवन के उत्थान-पतन का रहस्य उसके मन में ही है। जीवन में सुख-दुख का जो इतना संश्रय दिखाई पड़ता है, वह जीवन के साथ जब अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है, तब उस सुख-दुख को निराश्रित हो जाना पड़ता है। अपने अस्तित्व को उससे पृथक् समझ लेने पर न दुख रहता है, न सुख। किन्तु सामान्य जीवन में ऐसी विदेह-वृत्ति सम्भव नहीं होती। स्वप्न में हमें जो सुख-दुख भोगना पड़ता है, वह जाग्रदवस्था में नहीं होता ; क्योंकि स्वप्न का जो अहम् है, वह जगने पर बदल जाता है। इसी कारण स्वप्न की सारी भावनाएँ जाग्रदवस्था की भावनाओं के साथ स्पष्ट सम्बन्ध नहीं रखतीं। हम जो कुछ करते हैं, वह किसी कारण से और जबतक उस कारण से हम मुक्त नहीं होते तबतक उस कर्म के कारण से भी हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता।

कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक भाव

मनुष्य के हृदय में जितनी भावनाएँ उठती हैं, उनकी परिणति प्रत्यक्ष जीवन में एक दूसरे ही ढङ्ग से हुआ करती है। मनुष्य की बहुत-सी उदार भावनाएँ अपनी कल्पनात्मक सत्ता को छोड़कर बहुधा क्रियात्मक रूप प्राप्त नहीं कर सकतीं। संसार में ऐसे बहुत मनुष्य हैं, जो हृदयके उदार कहे जाते हैं, किन्तु उनकी उदारता सर्वत्र और सर्वांशतः जीवन के कठोर सत्य को ग्रहण

नहीं कर सकती । जिसके हृदय में अगाध करुणा है, अपरिमित ममता है, वह भी अपनी करुणा और ममता को जगत् के कल्याण-साधन में प्रवृत्त नहीं कर पाता । उसके सामने ऐसी बहुत-सी बाधाएँ आ खड़ी होती हैं जिनके कारण वह अपनी भावनाओं को क्रिया-तत्पर नहीं कर सकता । बहुत कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं को पढ़ने से देश तथा जाति के प्रति अतुल भक्ति झलकती है, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन-संग्राम में वे कुछ नहीं कर पाते । उनकी रचनाएँ देश-भक्ति, जाति-प्रेम के नाम पर बड़े सम्मान के साथ जनता की जिह्वा पर विराजती हैं, किन्तु बाँसुरी बजानेवाला कवि लाठी लेकर खेतों की मेड़ पर नहीं जाता । अपनी वाणी के द्वारा जो कुछ भाव प्रकाशित किया गया रहता है, उसके अतिरिक्त कुछ करने की प्रेरणा उसे नहीं होती । इस प्रकृति के कुछ अपवाद भी हैं—जैसे कुछ दूसरे नियमों के हुआ करते हैं । भावों की जो विशिष्टता है, वह क्रिया की विशेषता से अलग है । मनुष्य चाहे कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, अपने देश-जाति की दुर्दशा का चाहे कितना भी ज्ञान उसे क्यों न हो, किन्तु जबतक उसकी क्रियात्मक मनोवृत्तियाँ जाग्रत् नहीं होतीं, तबतक वह कुछ करने में समर्थ नहीं हो सकता । कल्पनात्मक भावना से हम दूसरों को प्रेरित कर सकते हैं, परन्तु रचनात्मक मनोवृत्ति के अभाव में हम स्वयं प्रेरित नहीं हो सकते ।

भावाधिक्य के समय मनुष्य वाणी और क्रिया—दोनों रूप से अपने को प्रकट करने की चेष्टा करता है । यदि प्रवृत्ति में तीव्रता नहीं रही तो साधारणतः वह वाणी या क्रिया, दोनों में से एक

के द्वारा ही अपने मनोभाव को प्रकट करता है। लेकिन तीव्र मनोभाव को इससे परितोष नहीं होता, वह अपने को प्रकट करने के लिए जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं, उनका उपयोग करता है। प्यार या घृणा करना यदि साधारण स्थिति में है, तो वाणी के रूप में या अनुभाव के द्वारा दिखलाया जा सकता है, किन्तु उसमें थोड़ी-सी भी उष्णता रहने पर चेष्टा बदल जाती है। अनुकूल क्रिया के साथ-साथ जब वाणी के रूप में "मैं तुम्हें प्यार करता हूँ या मैं तुमसे घृणा करता हूँ" के उद्गार निकल पड़ें, तब समझना चाहिए कि भाव साधारण स्थिति में नहीं है, उसमें क्रिया-तत्पर होने के लिए पर्याप्त शक्ति आ गई है। क्रोध की साधारण स्थिति में मनुष्य या तो केवल गालियाँ बकता है, या मारपीट कर बैठता है; लेकिन क्रोधावेश में वह दोनों ही करता है। उस समय ऐसा मालूम होता है, जैसे उसने आसमान को ही अपने सर पर उठा लिया हो।

भावाधिक्य में वाणी और क्रिया का योग

भाव को जब संचरण का क्षेत्र नहीं मिलता, तब वह लौटकर हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जीवन में घृणा से प्रेम और प्रेम से घृणा के व्यापार देखे गए हैं। प्रिय में जब भावुकता को विकास का क्षेत्र नहीं मिलता, उसका वहाँ सत्कार नहीं होता! तब तिरस्कृत भावुकता हृदय में वापस आकर विद्रोह करती है। घृणा का भाव घृणास्पद में पहुँचकर जब अपना अनुकूल वातावरण नहीं बना सकता, तब वह भी मन [illegible] प्रतिविकार उत्पन्न करता है कि उसका उपयोग समुचित तथा यथ[illegible]

भावों की प्रतिक्रिया और उसका परिणाम

स्थान नहीं हुआ। एक सीमा तक यदि प्रवृत्ति को अपने विकास के लिए क्षेत्र नहीं मिला, तो शरीर और मन पर उसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है और उस प्रवृत्ति का संस्कार-मलिन होने लगता है। भारतीय शास्त्रों ने इसी कारण धर्म का भी एक प्रवृत्ति-प्रधान रूप माना और जीवन में उसके क्षेत्र की व्याख्या कर दी है[1]। जहाँ भाव को क्रिया के रूप में गति नहीं मिलती, वहाँ वह आशा, आकाँक्षा, उत्सुकता बनकर बौद्धिक चेतना की परिधि के भीतर शक्ति-संचय करता है और इस प्रकार धीरे-धीरे जीवन को निष्क्रिय तथा कल्पनाशील बना देता है। आधुनिक मानव-जीवन में यह बात अधिकतर देखी जाती है। काल्पनिक भावुकता का यही मूल है। जीवन के बहुत से सुख-दुख का अस्तित्व केवल काल्पनिक आधार पर ही टिका रहता है। एक मामूली-सी बात, एक छोटी-सी घटना जो थोड़े-से धैर्य, तनिक-सी शांति के अवलम्बन से मिटाई जा सकती है, एक बवंडर की तरह फैल जाती है और केवल व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं, समस्त देश, जाति, समाज को भी उद्वेगशील बना देती है।

जीवन में कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक भावों की विवेचनात्मक समीक्षा करने पर, यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में हमारा भाव निष्क्रिय तथा आपद्-रहित रहता है, परन्तु क्रियात्मक

---

१. India has knowu for centuries what Freud is popularising in Europe that repressed desires are more corrupting in their effects than those exercised openly and freely.

Sir S. Radhakrishnan :—The Hindu View of Life. p. 83.

जीवन में वह सक्रिय और आपद्-सम्भावित हो जाता है।
काव्य के किसी करुणापूर्ण अंश को पढ़कर या सुनकर बैठे-बैठे
ही हम अपनी विभूति बिखेर दे सकते हैं, लेकिन

प्रत्यक्ष जीवन और काव्य में भावों की परिणति

प्रत्यक्ष जीवन में बिना सक्रियता के यह सम्भव
नहीं। अपनी करुणा की मर्यादा-रक्षा के लिए
हमें हाथ-पैर हिलाना पड़ता है, धन-सम्पत्ति का
त्याग भी सम्भावित रहता है। इसी कारण अपने
स्वत्व का त्याग प्रत्येक दिशा तथा प्रत्येक दशा में मनुष्य नहीं
दिखा सकता। यों तो संसार में ऐसे लोग भी मौजूद हैं, जो
कल्पनात्मक करुणा के आधार पर भी किसी दुखी-विपन्न के साथ
मौखिक सहानुभूति नहीं दिखा सकते। यह मनुष्य की सामान्यता
नहीं। इसका एक दूसरा पहलू भी है। जब भाव का ज्वार
आता है और क्रिया-तत्पर होने की प्रेरणा होती है, तब मनुष्य
अपने को अपनी सीमा के भीतर रखने में समर्थ नहीं हो पाता और
वह अपने भाव के अनुसारी परिणाम को भोगने के लिए, अपने
स्वत्व का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। कल्पनात्मक
भावों से जिसे संतोष नहीं होता, वह क्रियात्मक पक्ष के लिए भी
तैयार हो जाता है। जिसकी करुणा काव्य में ही सीमित नहीं रह
सकती, वह बाहर में भी अपना वैभव दिखलाता है। जो अपनी
निष्ठुरता को कल्पना-जगत् में ही बँधा नहीं रख सकता, वह समर्थ
रहने पर प्रत्यक्ष जगत् में भी उसका प्रदर्शन करता है। मनुष्य के
हृदय में कुछ भाव, विलास के रूप में अलंकृत रहते हैं। जगत् के
जितने व्यापार हैं, उनमें से एक भी भावना-शून्य नहीं[1]। प्रत्यक्ष

१. Reason, in other words, cannot accomplish anything

या अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यापार के साथ इच्छा का सम्बन्ध है। काव्य में हम भावों के उत्थान-पतन के द्वारा अपनी काल्पनिक विलास-वृत्ति को परितुष्ट करते हैं और जगत् के विविध व्यापार के रूप में हम अपने भावों की क्रियात्मक सत्ता दिखाते हैं।

स्वपीड़न और परपीड़न

मनुष्य में कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं, जो बाहर से विचित्र-सी लगती हैं। एक मनोदशा वह है, जब मनुष्य दूसरे को दुख देने में, निष्ठुरता-पूर्वक आघात करने में प्रसन्न होता है और दूसरी प्रवृत्ति वह है, जब मनुष्य अपने ऊपर ही पीड़ा का भार लेने में आनन्द का अनुभव करता है। काम-वासना के क्षेत्र में ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष रहती हैं। महदुद्देश्य को लेकर परोपकार की भावना से कष्ट सहना, यहाँ तक कि प्राणोत्सर्ग करना, एक भिन्न बात है, किन्तु सामान्य जीवन में, साधारण उद्देश्य को लेकर भी ऐसी मनोदशा पाई जाती है। मनुष्य जब अपने को अधम समझता है, उसका विवेक प्रताड़ित करता है, तब ग्लानि से अभिभूत होकर अपने को अपराधी समझ, दंडित होने में, आत्म-सन्तोष प्राप्त करता है। अपनी सन्तान के सुख के लिए माता-पिता कष्ट सहने को तैयार रहते हैं। आग्रह या हठ के रूप में अपने किसी प्रेमी के सामने जो उसके कष्ट के साथ गम्भीर सहानुभूति रखता है, प्रिय अपना शिर फोड़ने की चेष्टा करता है और इस प्रकार की लीला के कारण वह अपना हठ

---

by itself, it must be prompted by a preceeding desire before it begins to operate, it is engine of the ego and desire is the steam which makes it go,

—C. E. M. Joad:—The Mind And Its Workings. P. 63.

जो चेष्टा होती है, वह भी काम की प्रधानता के कारण ही[1]।
सृष्टि-विधान के अनुसार, उत्पादन की प्रेरणा से जाग्रत् होकर
मैदानों में हरी-हरी घासें, खेतों में हरे-हरे पौधे दिखाई पड़ते हैं।
पुष्प अपनी सुगन्ध और सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। पक्षिगण
मधुर-से मधुर गीत गाते हैं। झिल्ली की झनकार, कोयल की
कूक अपने प्रेमियों के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वनों
की निस्तब्धता को भङ्ग करनेवाले नाना प्रकार के पक्षियों के जो
कलरव सुनाई पड़ते हैं, वे सब काम के ही असंख्य गीत हैं।
मनुष्य की वर्ण-प्रियता, उसकी कला और संगीत के सौन्दर्य तथा
माधुर्य पर प्रेम, काव्य में लालित्य के प्रति अनुराग, रमणीय चित्रों
का भला लगना, ये सब काम की प्रेरणा से ही सम्भव हैं। स्त्री-
पुरुष जिस शक्ति के कारण सानन्द विवाह-बन्धन में आबद्ध होते
हैं, वह उन मधुर प्रभावों की सत्ता और उद्गम का कारण है, जिनसे
पवित्र-से-पवित्र और उच्च-से-उच्च वासनाओं तथा कर्मों को बल
तथा स्थिति प्राप्त होती है। इन मधुर प्रभावों के द्वारा समस्त
प्रकृति में सुधार तथा उच्चता सम्पादित होती है। जिस मानवता का
सम्बन्ध प्रत्येक उच्च तथा पवित्र प्रेरणा से है, वह इसी प्रेरक शक्ति
से जुड़ी रहती है। तन्मयता, मृदुलता, स्वार्थ-निलय, संग्राहकत्व
आदि सृष्टि रक्षा के जितने दिव्यतम भाव हो सकते हैं, सब इसी

तस्याभिमानिक सुखानुविद्धा फलवत्यर्थ प्रतीतिः प्राधान्यात् कामः ॥

—वात्स्यायन कामसूत्र, १, २,

1. Eros-kamo, in this large sence: is truly the parent of all the goods, and the presiding deity of all Sahitya and literature, which is all only the record of his play.
Dr. Bhagwan Das—The Science of the Emotions p 397

व्यापार अपनी कामना के स्वरूप ही हैं। जिसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध है या सम्बन्ध की इच्छा है, वही हमें प्रिय लगता है। रागात्मक सम्बन्ध के अभाव में दुनिया की कोई भी बात हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती। राग और द्वेष—इन्हीं दो तत्त्वों के कारण जगत् के व्यापार चलते हैं। 'इन्द्रिय-स्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ'—प्रत्येक इन्द्रिय के प्रत्येक विषय के साथ राग-द्वेष का सम्बन्ध है। सारा जगत ही इसी प्रकार द्वन्द्वमय है। विद्युत् के ऋण-धन की तरह, ये दोनों तत्त्व समस्त विश्व में परिव्याप्त हैं। जबतक यह द्वन्द्व न हो, तबतक कोई कर्म भी नहीं हो सकता। वैराग्य, प्रत्यक्षतः अनुराग का ही दिशा-भेद है। जो राग लोक के साथ सम्बद्ध रहता आता है, वह उससे पराङ्मुख होकर दूसरी ओर आबद्ध हो जाता है। उन्मुख राग विमुख हो जाता है। काम-मनोविज्ञान के आचार्यों ने यह प्रमाणित किया है कि संसार के सारे व्यापार काम-वासना के संकेत पर ही सञ्चालित होते हैं। काम-मनोविज्ञान के अतिरिक्त शास्त्रीय विवेचन में भी यह बात पाई जाती है[1]।

काम-वासना और उसका प्रयत्न-विस्तार

१. अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पञ्चकोषों के उपन्यास में जीवन-विधान का सार है। इन पाँचों की अपनी अलग-अलग स्थिति तथा व्यापार हैं। किन्तु आनन्दमय कोष मुख्यतः प्रेरणा-स्वरूप है। 'रसो वै सः। रसः ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति एष ह्येवानन्दयाति। (तैत्ति० २, ७, १,) वह रस ही है। रस को प्राप्तकर ही पुरुष आनन्दित होता है। यह रस ही सब को आनन्दित करता है। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह०, ४, ३, ३२,)—इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय से ही सब प्राणी जीवित रहते हैं। इस प्रकार

ही उभयलिङ्ग में पुनर्जात होता है। वेदों ने भी उद्घोषित किया—'कामस्तदग्रे समवर्वताधि'[1] सृष्टि की उत्पत्ति काम से हुई। काम-प्रवृत्ति इतनी व्यापक और तीव्र है कि संसार के सामान्य व्यापार के साथ भी उसका सम्बन्ध छोड़ा नहीं जा सकता। जगत् में जो कुछ है, वह काम की चेष्टा का ही परिणाम है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं[2]। साधारण प्रेमानुराग के मूल में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-वहन के स्नेह-अनुराग में इसी प्रवृत्ति के रूपान्तरकी छाया पाई जाती है। ईश्वर की भक्ति भी काम-प्रवृत्ति से खाली नहीं। मनुष्य-मात्र काममय है, उसकी सारी चेष्टाएँ काम-प्रेरित हैं; वैदिक द्रष्टा ने भी—'काममय एवायं पुरुषः'—कहकर मनुष्य-मात्र में काम का सम्बन्ध वताया है। ब्रह्म के सदृश ही आत्मा चितिरूप है।

---

१. कामस्तदग्रे समवर्वताधि मनोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
(ऋ० १०, २९, ४)

इसके (ब्रह्म) मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला, वही आरम्भ में काम (सृष्टि-निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार-बुद्धि से निश्चय किया कि यही असत् में सत् का पहला सम्बन्ध है।

२. अकामस्य क्रिया क्वाचिद् दृश्यते नेहकार्हिचिन्।
यद् यद्हि कुरुते किञ्चित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥ —मनुः

All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame,
All are but ministers of love,
And feed his sacred flame.
—Coleridge; Ode to Love.

काममय जीवन

यदि मनुष्य में काम-वासना न रहे, तो जगत् का कोई भी काम वह नहीं कर सकता। पश्चिमी मनोविश्लेषक अल्वर्ट फ्रायड ने जब से इस तथ्य का प्रतिपादन किया, तब से इस विषय पर कई तरह के मत-मतान्तर प्रकाशित होते रहे; किन्तु भारतीय शास्त्र में इसका प्रतिपादन कोई नई बात नहीं। प्रकृति और पुरुष के समन्वय के परिणाम-स्वरूप सृष्टि-विधान को मान लेने पर, जगत् के व्यापार के मूल में काम-प्रकृति को भुलाया नहीं जा सकता। जब तक यह सृष्टि प्रकृति-पुरुष समन्वित है, तबतक जगत् में उसकी सत्ता को अस्वीकृत भी नहीं किया जा सकता। वृहदोपनिषद् के आरम्भ शब्दों में इस सृष्टि का मूलकारण यही कहा जाता है—'एकाकी नारमत आत्मानं द्वेधा व्यभजत्, पतिश्च पत्नी चाभवत्'—एक में वह नहीं रमा, पति और पत्नी के रूप में उसने अपने दो भेद किए। इसके बाद भी आत्म-विस्तार के लिए—'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्'—उसने बहुत सी प्रजा की सृष्टि की और उनमें प्रविष्ट हुआ। मूलरूप में जो पिता है, वही पुत्र है। वैद्यक शास्त्र में भी इस बात का विवेचन किया गया है कि माता-पिता के कौन-कौन अवयव सन्तान में वर्त्तमान रहते हैं[1]। जाया-रूप स्त्री में शुक्र-ब्रह्म का अवस्थान कर पुरुष

रसोद्भूत आनन्द ही जगत् और जीवन की प्रतिष्ठा का कारण है। लोक में इसी आनन्द का रूप वासना-प्रधान हो जाता है।

१. सुश्रुत के शारीरस्थान में माता-पिता के भेद से मनुष्य में रक्त, मांस, मेद, हृदय, प्लीहा, अंत्र, यकृत् आदि माता के अंग और मज्जातंतु, अस्थि, धमनी, लोम आदि पिता के अंग बताये गए हैं।

ही उभयलिङ्ग में पुनर्जात होता है। वेदों ने भी उद्घोषित किया—'कामस्तदग्रे समवर्वताधि'[१] सृष्टि की उत्पत्ति काम से हुई। काम-प्रवृत्ति इतनी व्यापक और तीव्र है कि संसार के सामान्य व्यापार के साथ भी उसका सम्बन्ध छोड़ा नहीं जा सकता। जगत् में जो कुछ है, वह काम की चेष्टा का ही परिणाम है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं[२]। साधारण प्रेमानुराग के मूल में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन के स्नेह-अनुराग में इसी प्रवृत्ति के रूपान्तरकी छाया पाई जाती है। ईश्वर की भक्ति भी काम-प्रवृत्ति से खाली नहीं। मनुष्य-मात्र काममय है, उसकी सारी चेष्टाएँ काम-प्रेरित हैं; वैदिक द्रष्टा ने भी—'काममय एवायं पुरुषः'—कहकर मनुष्य-मात्र में काम का सम्बन्ध बताया है। ब्रह्म के सदृश ही आत्मा चितिरूप है।

---

१. कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
(ऋ० १०, २९, ४)

इसके (ब्रह्म) मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला, वही आरम्भ में काम (सृष्टि-निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार-बुद्धि से निश्चय किया कि यही असत् में सत् का पहला सम्बन्ध है।

२. अकामस्य क्रिया क्वाचिद् दृश्यते नेहकाहिचिन्।
यद् यद्हि कुरुते किञ्चित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥ —मनुः

All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame,
All are but ministers of love,
And feed his sacred flame.
—Coleridge; Ode to Love.

स्थिति के अनुरूप आत्मा के कितने अवान्तर भेद हो जाते हैं। बुद्धि से निश्चय करती हुई वह विज्ञानमय, मन से संकल्प करते समय मनोमय, प्राण से जीवन-रक्षा कर प्राणमय, आँख से देखती हुई चक्षुर्मय, कान से सुनती हुई श्रोतमय अर्थात् प्राण तथा इन्द्रियों के कार्य में वह तद्रूप प्रतीत होती है। इसी प्रकार हृदय के भावों की अवस्थिति भी उसके काममय रूप के विना सम्भव नहीं है।

यौन-सम्बन्ध और जीवन-ध्येय

यौन-सम्बन्ध एक प्राकृतिक व्यापार है, किन्तु प्रकृति की मर्यादा रखने के लिए समाज-धर्म के अन्तर्गत लाकर उसको आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर ला खड़ा कर दिया गया है। ऐषणात्रय—पुत्र, धन, लोक—के विवेचन से स्पष्ट है कि जगत् में आध्यात्मिक प्रेम से सृष्टि-विधान सम्भव नहीं। प्रेम वासना के रूप में परिवर्त्तित होकर ही सृष्टि में प्रवृत्त होता है। ऐषणात्रय के प्रतिशोध में ऋणत्रय—पितृ, गुरु, देव—है। जीवन की संगति के लिए तप, भोग और यज्ञ का भी अपना विशेष महत्त्व है। विश्व-प्रकृति में इस प्रकार लेन-देन का सवाल भी कुछ कम नहीं रहता। बीज अपने अस्तित्व को मिटा कर जब फूल के रूप में खिलता है, तब फूल को भी अपने अस्तित्व को नष्टकर बीज बन जाना पड़ता है। तप के द्वारा मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है, उसका वह भोग कर लेता है, पर भोग के बाद यज्ञ के द्वारा भोग-जनित क्षति की पूर्त्ति कर देना मनुष्य का एक धर्म माना जाता है। इस प्रकार मनुष्य जिस वस्तु को जिस स्थान पर से उठावे, उस वस्तु को उसी स्थान पर रखने का विधान भी उसे बताया गया है।

मानव जीवन में शुक्रब्रह्म और ज्ञानब्रह्म का अत्यधिक महत्त्व है। शरीर-विज्ञान के अनुसार आहार के परिपाक से क्रमशः सात धातुओं का निर्माण शरीर में होता है—रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र। इसी सातवीं धातु में नवीन प्राणी शरीर आरम्भ करने की शक्ति है। उसका उपयोग प्रजनन में नहीं होने पर, उसके निरोध पर, परिपाक से सूक्ष्म शरीर में अष्टम परिणाम ओज, वल, तेज की अधिकतर प्राप्ति होती है, जिससे संसार के नाना व्यापार चलते हैं, काव्य-कला की सृष्टि होती है। यही शुक्रब्रह्म ज्ञानब्रह्म का उत्पादक है। अन्न से ही शुक्र वनता है। मनुष्य जिस अन्न का सेवन करता है, उसमें सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप, सूक्ष्म अन्न—ये तीन तत्त्व रहते हैं। इन तीन तत्त्वों से वना अन्न जव शरीर में पहुँचता है, तव तेज-तत्त्व के कारण स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम—क्रमशः अस्थि, मज्जा, वाणी—उत्पन्न होते हैं। जल तत्त्व से मूत्र, रक्त तथा प्राण, अन्न तत्त्व से पुरीप, मांस और मन—ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं। काव्य के प्रयोजन के लिए इन तत्त्वों में प्रमुख वाणी, प्राण तथा मन की रचना मिलती है। उपनिपद् के अनुसार अन्न से ही पुरुप की उत्पत्ति मानी जाती है—पृथिव्या ओपधयः। ओपधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुपः। (तै० २, १) अन्न के रस का जो सारतम अंश है, वह सूक्ष्म रूप सनातन ब्रह्म है[1]। इसी कारण भारतीय शास्त्रों में भोजन की प्रकृति से मनुष्य की प्रकृति का सम्वन्ध वताया

शुक्रब्रह्म और ज्ञानब्रह्म

---

१. एक ऋपि ने कहा है—पाकेरसस्तु द्विविधः प्रोच्यतेऽन्न रसात्मकः। रस सारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम्'।

के सारे व्यापार का मूलभूत, जो यह सृष्टि-कर्म है, वह ब्रह्म की ही कोई-न-कोई अतर्क्य लीला है, स्वतन्त्र वस्तु नहीं[1]। जो निष्काम है, वह निष्क्रिय है, केवल इतना कह देने से शायद गीता के कर्मयोगवादी सहमत न हों; क्योंकि वहाँ फलासक्ति-रहित होकर कर्म करने का आदेश बराबर दिया गया है। जो आदर्श है, वह यथार्थ नहीं होता। आदर्श प्राप्त होकर ही यथार्थ बनता है। साधारणतः जीवन में उसी कर्म की कामना होती है, जिसके परिणाम का भोग प्राप्त हो सके।

काम-चेष्टा पर धर्म का नियन्त्रण

काम-रहित जीव कोई भी कर्म नहीं कर सकता, किन्तु इतना होने पर भी यह तो कहा ही जायगा कि काम में आपादमस्तक लीन होना श्रेयस्कर नहीं। जिस अग्नि से भोजन पकता है, उससे मनुष्य भस्मसात् भी हो सकता है। यही कारण है कि काम-चेष्टा के नियन्त्रण के लिए धर्म का निरूपण कर दिया गया है। इस प्रकार मनुष्य को प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो विन्दुओं के बीच द्वन्द्व करना पड़ता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के औचित्य का निर्णय लोक-कल्याण की अपेक्षा रखकर ही किया

ही धी=बुद्धि+आन=प्राण से बना है। बोधव्य विषय के साथ प्राण को तन्मय करना ही ध्यान है। एकाग्र और एकचित्त होकर किसी वस्तु को देखने या उसमें तन्मय होने पर श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रायः निश्चेष्ट-सी हो जाती है। चित्त और प्राण की यही विशेषता है।

१. What belongs to mere appearance is necessarily subordinated by veasih to the nature of the thing in itself.
[Kant's Metaphysic of morals, Abbot's Translation, in Kant's Theory of Ethics, Page 81.]

५। श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु

जन्म—१८ जनवरी, सन् १९०८ ई०। स्थान—पूर्णियाँ जिले का रूपसपुर ग्राम। प्रारम्भिक शिक्षा-स्थान—जिला स्कूल, भागलपुर। सन् १९३४ ई० में हिन्दू-विश्व-विद्यालय से एम० ए०।

छात्र-जीवन से ही लिखने-पढ़ने का चस्का। प्रवेशिका के शिक्षण-काल में 'भ्रातृप्रेम' एक रोचक उपन्यास तथा 'गुलाब की कलियाँ' नामक कहानी-संग्रह का प्रकाशन। इन्टरमिडियेट तक आते-आते, गल्प-लेखन से विशेष अनुराग। १९२९ ई० में नव कहानियों का एक संग्रह, 'रसरंग' छपा। सन् १९३१ ई० में, प्रथम पत्नी के देहावसान पर 'वियोग' नामक गद्य काव्य लिखा।

१९३१-३२ के बाद, अनुसंधान-सम्बन्धी कार्यों की ओर विशेष प्रवृत्ति। आल्हाखंड पर शोध-सम्बन्धी विशेष निबन्ध। एम० ए० के अध्ययन-काल में ही क्रोचे के सिद्धान्तों से प्रभाव-ग्रहण। प्रस्तुत पुस्तक उसी का परिणाम। हिन्दी के समीक्षा-साहित्य को एक नई देन।

सन् १९३४ ई० में ही देवघर गोवर्धन विद्यापीठ के कुलपति, साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश। १९४९ ई० में पूर्णियाँ जिलाबोर्डके चेयरमैन, स्वातन्त्र्य-संग्राम में सजग प्रहरी, कई बार जेल-यात्राएँ कीं, उत्पीड़न सहा, पर मुँह से आह न की। जेल में 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य-योग' नामक समीक्षात्मक गंभीर ग्रन्थों की रचना।

आजकल विहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष और विहार कांग्रेस विधान-दल के [illegible]

जाता है। गीता में भगवान ने कहा है—'धर्माविरुद्धो भूतानां कामोस्मि भरतर्षभः'—हे अर्जुन! धर्म के अविरुद्ध काम मैं ही हूँ। काम और धर्म दोनों की सत्ता से कलाकौशल की वृद्धि होती है। एक की प्रेरणा होती है और दूसरा उसके स्थायित्व का विधान करता है[1]। प्रवृत्ति का जो मार्ग है, उसे रोकना सरल नहीं है। प्राणिमात्र अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं। निग्रह से उसे कोई विशेष बाधा नहीं होती[2]। अपनी उत्थित शक्ति का व्यय उसे किसी-न-किसी दिशा तथा कर्म में करना ही पड़ता है।

काव्य-प्रेरणा के भिन्न-भिन्न रूप

प्रेरणा की दृष्टि से कवियों की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। जीवन की प्रत्येक मनोदशा या स्थितिमें काव्य-रचना नहीं हो सकती। कोई ऐसे आशुकवि हों भी, जो हर समय काव्य-रचना का दम्भ रखते हों, तो उनकी रचनाएँ किसी महत्त्व की नहीं हो सकतीं। प्रत्येक कलाकार, काव्य, चित्र, शिल्प आदि जो कुछ

---

१. 'Incidently it may be noted that all the finest products of the fine arts, and some also of the useful arts, poetry, drama, dancing, music, painting, sculpture, archetecture, clothing, metal work, town-planning, gardening, tree-planting, road-making etc., have found their greatest patron in, and drawn their most splendid inspiration from religion in all ages and in all countries.

.........Religion has thus secured some of the purest joy to humanity, even in the life of the senses.'

Dr. Bhagwan Das: The Unity of all Religions. p. 465.

२. 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'। [गीता ३, ३३]

भी विषय हो, अपनी मनोदशा को कला-प्रवृत्त बनाने के लिए किसी-न-किसी विधि का अवलम्बन करता पाया जाता है। किसी को सौंदर्योपासना से काव्य-प्रवृत्ति होती है, तो किसी को सङ्गीत की मीठी स्वर-लहरी से। किसी को विजया की तरङ्ग से, तो किसी को शराब की बोतलों से। किसी को प्रकृति के हरे-भरे दृश्य, जंगल, पहाड़, झरने को देखने से नई सूझ होती है, तो किसी को एकान्त में ही गति मिलती है। शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा, जो किसी-न-किसी प्रकार के वैध, अवैध, पूत, अपूत कारण से अपनी कला-प्रवृत्ति का सम्बन्ध न रखता हो। ऐसे अनेक कवि हैं, जिनको स्त्री-दर्शन के अभाव में काव्य-दर्शन होता ही नहीं। पश्चिमी कलाकारों में अधिकांश ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी कलाभिमुख प्रवृत्ति की रक्षा अवैध प्रेम तथा मदिरा के बल पर की। प्रकृति के रमणीय दृश्य, संगीत की स्वर-लहरी से काव्य के मनोभाव जगते हैं, किंतु उन सब में अनुराग ही प्रधान तत्त्व है। प्रेम के संयोग तथा वियोग, दोनों अवस्थाओं में, काव्य-प्रेरणा होती है, लेकिन वियोग-काल में जितनी मार्मिक कविताएँ लिखी गईं, उतनी संयोग-कालमें नहीं। प्रेम-दशा भाव-योग की दशा है, इसीलिए अपने प्रेम को व्यक्त करने या उसके आधार पर जगत् के प्रति अपने जीवन के अनुराग को प्रदर्शित करने में हृदय को जो उल्लास मिलता है, वह दूसरी स्थिति में नहीं। अपनी घृणा को व्यक्त करने के लिए काव्य की रचना नहीं हो सकती। प्रेम ने जितने कवि उत्पन्न किए, उतने किसी अन्य भाव ने नहीं। यही कारण है कि प्रेम-काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है।

अवस्था-भेद से काव्य-प्रेरणा

काव्य-रचना के लिए जीवन में अनुकूल परिस्थिति तो चाहिए ही, अवस्था-भेद का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। काव्य की प्रेरणा किस अवस्था में होती है, इस पर भी विचार किया जा सकता है। प्रतिभा के उदित होने के लिए न कोई निश्चित परिस्थिति अनुकूल होती है और न कोई खास अवस्था ही उपयुक्त होती है। प्रतिभा किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है। जो वाल्यावस्था में मन्द रहा, वह युवावस्था में तेज हो गया है और जो वचपन में प्रतिभासम्पन्न रहा, वह जवानी में शिथिल पड़ा है। वहुतों की वुद्धि वृद्धावस्था में तीव्र होते पाई गई है। वुद्धि की सीमा को पारकर ही प्रतिभा का उदय होता है। इस प्रकार उसकी उद्भावना का कोई निश्चित समय नहीं वताया जा सकता। ऐसे भी कुछ कलाकार पैदा हो गए हैं, जिनकी प्रतिभा आरम्भ से अन्त तक एकरस वनी रही है। किन्तु इतनी सत्यता रहने पर भी, काव्य-रचनाके सम्वन्ध में साधारण ढंग से, अवस्था-भेद के अनुसार, प्रेरणा-शक्ति का विश्लेपण नहीं किया जा सकता। क्वेटेलेट ने अवस्थाक्रम के अनुसार काव्य-रचना की शक्ति की एक तालिका वनाई है। नाटक के सम्वन्ध में उन्होंने लिखा है कि इक्कीस वर्प की अवस्था से नाटक लिखने की प्रवृत्ति होती है और पचीस से तीस वर्प की अवस्था तक वह पूरे जोर पर रहती है। पचास या पचपन वर्ष की उम्र तक उसका सिलसिला वना रहता है। उसके वाद इस प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो जाता है। संयोगान्त की अपेक्षा वियोगान्त नाटक लिखने की प्रेरणा विशेष होती है। क्वेटेलेट ने स्वभावतः अपनी तालिका वनाते समय पाश्चात्य लेखकों

पर ही दृष्टि रखी है। इसमें सन्देह नहीं कि क्वेटलेट के अनुसन्धान में जितना सत्य है, उतना उसका अपवाद भी है। आरम्भ में जीवन और जगत् में जो उल्लास दिखाई पड़ता है, वह बाद की अवस्था में उसी रूप में नहीं रहता। साधारणतः किशोर, युवा तथा वृद्धावस्था में क्रमशः भावना, क्रिया तथा स्मृति की प्रबलता रहती है। किन्तु इसके अनुक्रम की कोई तालिका नहीं बनाई जा सकती। देश, काल, पात्र के अनुसार एक ही तथ्य का बहुधा रूपान्तर हो जाता है। युवावस्थामें अनुभूतिमूलक प्रेमोच्छ्वास को व्यक्त करने की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी बाद में सदैव नहीं रहती, किंतु ऐसी प्रवृत्ति किसी नियम के अन्तर्गत नहीं लाई जा सकती। रीतिकाल के बूढ़े हिंदी-कवियों ने अपनी वृद्धावस्था में भी यौवन के रस-प्रसंग को न भुलाया और जबतक प्राण रहे, प्रणय ने भी पिण्ड न छोड़ा।

चित्त की वासना अनादि है। वासना केवल बुरे कर्मों की ही नहीं होती, सत्कार्य की प्रेरणा भी वासना से मिलती है। यदि

वासना और उसके उपयोग

चित्त में अच्छे या बुरे कर्म की वासना न हो, तो उसके लिए प्रयत्न ही नहीं किया जा सके। नैतिक दृष्टि से हमारा जीवन विधि और निषेध के प्रतिबन्ध के अन्तर्गत रहता आया है, किन्तु मनःशास्त्र की दृष्टि से हम इस सम्बन्ध में भूल भी बराबर करते आ रहे हैं। चित्त में जब वासना जगती है, तब अपनी प्रकृति के अनुसार वह भाव तथा कर्म के रूप में प्रवृत्त होना चाहती है। सत्कर्म-सम्बन्धी वासना को हम विधि का मार्ग बता देते हैं, किन्तु कुवासनाका निषेधमात्र करते हैं। 'यह मत करो' मात्र से ही वासना की शक्ति क्षीण

नहीं हो जाती। 'यह मत करो' के बाद 'यह करो' बताये बिना उत्तेजित वासना चित्त को अव्यवस्थित कर देती है और उसके परिणाम-स्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, साहित्य, समाज, राजनीति आदि में बवंडर उठा करते हैं।

उत्तेजित वासना और उसके दमन का परिणाम

वासना को उत्तेजित करने तथा उसके दमन से मन तथा शरीर—दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है[1]। इससे कई तरह के मस्तिष्क-सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। साधारणतः होता तो यह है कि हम अपनी वासनाओं को किसी प्रकार दबा नहीं सकते। किसी-न-किसी रूप से, भाव से उसकी अभिव्यक्ति हो ही जाती है। हम कहते हैं, हमारे चित्त में बुरी वासना नहीं है, किन्तु जिसके चित्त में वैसी कुवासना है, उसकी निन्दाकर, उपेक्षाकर हम अपनी अंतर्हित कुवासना को व्यक्त कर ही देते हैं। कुवासना-प्रेरित कलाकार की कृतियों पर अपना रोष और क्षोभ प्रकटकर हम सद्वासना का दम्भ करते हैं, किन्तु यथार्थ में हम अपनी अन्तर्हित कुवासना को ही सद्वासना के रूप में दिखाना चाहते हैं। वासना या उसके ओज का आधिक्य यदि एक दिशा में खर्च नहीं हो जाता, तो दूसरी दिशा में उसकी गति रोकी नहीं जा सकती[2]। सबल मनुष्य के प्रति उत्थित क्रोध को जब उस लक्ष्य के प्रति अभिव्यक्ति का द्वार नहीं मिलता, तब

---

१. 'नोदीर्णान् धारयेत् वेगान् नानुदीर्णानुदीरयेत्' —चरक

२. It is well known that when energy is aroused in a certain direction, surpluses flow into other direction.
—Dr. Bhagwan Das; The Science of the Emotions. P. 296.

निर्बल पर ही सारा क्रोध उतार लिया जाता है। यदि परिस्थिति उतनी भी अनुकूल न रही, तो वह मानसिक ज्वर बनकर अपने ही मन-प्राण को सन्तप्त कर देता है। इस प्रकार हम अपने चित्त की वासना की अभिव्यक्ति के लिए कोई-न-कोई द्वार ढूँढ़ ही लेते हैं।

काव्य-प्रेरणा के मूल में वासना

काव्य-रचना भी अपनी वासना की प्रकृति के अनुकूल ही होती है। कोई सत्काव्य लिखता है, तो कोई असत काव्य ; पर रचना करने की प्रवृत्ति रखनेवाले को रोका नहीं जा सकता। लोक, समाज, राजनीतिकता पर दृष्टि रखकर जहाँ तक सम्भव हो सकता है, मनुष्य अपनी वासना को नग्न रूप में प्रकाशित करने का साहस नहीं करता। और कुछ नहीं, तो सुधार के नाम पर ही ऐसी बहुत-सी रचनाएँ साहित्य में होती रही हैं और होती रहेंगी।

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के मत से काव्य-प्रेरणा

काव्य की प्रेरणा के मूल में, संस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों के मतानुसार, कई कारण पाये जाते हैं। यश, द्रव्य, व्यवहार-ज्ञान, दुःखनाश[1] आदि कई ऐसी बातें काव्य-रचना के मूल में पायी जाती हैं, जिनका विवरण उन्होंने दिया है। सब कारणों का एक ही मूल है और वह है सुख। यश, कीर्त्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की सुख-लिप्सा ही छिपी हुई है।

यथार्थ की अतिव्याप्ति ही प्रशंसा है। अपनी प्रशंसा

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेत रक्षतये,
सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मित तयोपदेश युजे।
—मम्मटः काव्य-प्रका

कवियों को जो प्रेरणा मिलती है, वह आत्म-विस्तार के परितोष से खाली नहीं रहती। दूसरों द्वारा निर्व्याज रूप से अपनी वाणी के अवतरण तथा अनुश्रवण की अपेक्षा कवियों को कोई अन्य भाव अधिक सुख नहीं पहुंचा सकता। दूसरों के कण्ठ में वाणी के व्याज से अपनी भावात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा करना एक बड़ी साधना है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा में भी सुख-लोभ ही अन्तर्हित है। काव्य रचना कर जो धन प्राप्त करने की कामना होती है, वह धन के वस्तुगत सौन्दर्य से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत् उस धन की क्रयःशक्ति में जीवन की जो सुख-सुविधा लगी हुई है, वही भावना काव्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। द्रव्य-लाभ की प्रेरणा से जो काव्य-रचना की जाती है, उसमें कवि की अनन्यता विशेष मात्रा में नहीं रहती। इसी कारण ऐसी रचनाएँ कवि को द्रव्य-लाभ का सुख जिस मात्रा में दे सकती हैं, उस मात्रा में यश का सुख नहीं। किसी भी स्थिति में, अपने सुख की कामना के अतिरिक्त मनुष्य को आत्म-विस्तार का कोई लक्ष्य दृष्टिगत नहीं होता।

काव्य-प्रेरणा का प्रधान कारण—आत्म-सुख

कुछ लोग 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की पुकार उठा कर काव्य-साहित्य के उद्देश्य को निश्चित करना चाहते हैं। ऐसे प्रश्न के उत्तर में कोई 'स्वान्तः सुखाय', कोई 'जन-हिताय' और कोई कुछ कहते हैं। काव्य की रचना अपने अन्तःकरण के सुख-सन्तोष के लिए की जाय या जन-समाज के हित-विचार से, दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति में सत्य हैं। मानव-ज्ञान इतना सीमित है कि वह अपनी सारी संवेदनाओं को शायद ही जान सके। प्रकट

रूप में हम प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई हेतु, उसकी प्रेरणा बतला दिया करते हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में वह यथार्थ ही होता हो, यह कहना भ्रम से खाली नहीं है। हमारी चेतना में जो हेतु प्रत्यक्ष रहता है, उसका उल्लेख कर देते हैं, पर उस प्रत्यक्ष हेतु को उपस्थित करनेवाला कौन-सा अप्रत्यक्ष कारण है, इस सम्बन्ध में हमारा मौन ही उत्तर है। अपने हित को जनता के हित से भिन्न देखने की दृष्टि कवि को नहीं होती।

स्वान्तःसुखाय और जन-हिताय

संसार में जितने काम होते हैं, प्रायः सब स्वांतः-सुखाय ही किये जाते हैं। कर्म-प्रयत्न में इच्छा का योग एक आवश्यक प्रतिबन्ध है। यदि भीतरी प्रवृत्ति न हो, तो बाहर की पुकार पर दौड़नेवाला शायद ही कोई मिले। अपने अन्तःकरण की किसी प्रेरणा के परितोष के लिए भी काव्य-रचना करना वस्तुतः जीवन और जगत् से निरपेक्ष होकर नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वांतःसुखाय' ही रघुनाथ-गाथा लिखी, यह सच है, पर दो-तीन दर्जन पंक्तियों में देव, ऋषि यहाँ तक कि 'वन्दौं सन्त असन्तन चरणा' की गुहार करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? वस्तुस्थिति यह है कि जीवन और जगत् से निरपेक्ष रहना मनुष्य के लिए एक कठिन व्यापार है, कवि के लिए असम्भव। तुलसी के हृदय में लोक-कल्याण की भावना थी, यही उनकी प्रेरणा है। अपने आत्म-प्रकाश को प्रत्यक्ष करने का रामायण एक प्रयत्नमात्र है। हम दूसरों पर दया करते हैं, करुणा करते हैं, उपकार करते हैं, दूसरों के दुःख के साथ अपनी सहानुभूति रखते हैं, यह सब स्वान्तःसुखाय ही होता है। दूसरों के दुःख को देखकर जबतक हृदय में संवेदना उत्पन्न नहीं होती,

तब तक कोई दया, करुणा, उपकार कर ही नहीं सकता। वस्तुतः हम अपनी संवेदना के ही कष्ट से मुक्ति पाने के लिए दूसरों का उपकार आदि करते हैं। अपने अन्तःकरण को जब तक परितोष न हो, तब तक जन-हिताय भी कुछ नहीं किया जा सकता।

दोनों का मूल वस्तुतः एक ही है

स्वान्तःसुखाय और जन-हिताय—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं। प्रत्यक्ष में नहीं, तो कल्पना में भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक रूप उपस्थित न रहे, तो कवि को तदनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नहीं, ऐतिहासिक भी है। प्रत्येक भाव का बाह्य अभिनन्दन उसकी प्रकृति तथा विकास पर निर्भर करता है। कोयल की स्वान्तःसुखाय कूक पर हम आनन्दमत्त हो जाते हैं, पर कौवे के स्वान्तःसुखाय काँव-काँव-टाँय पर फिदा होनेवाले कितने मिलेंगे! केवल स्वान्तःसुखाय होने से ही किसी का कोई कर्म अभिनन्दनीय नहीं माना जा सकता, उससे लोक-रञ्जन या लोक-कल्याण किस सीमा तक हो सकता है, यह भी उसका एक मापदण्ड है।

सातवाँ अध्याय

लय और छन्द

लय और छन्द का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि हम बहुधा एक से दूसरे का बोध कर लेते हैं। यहाँ वस्तुतः इसका तत्त्वान्वेषण करना चाहिए कि दोनों के सम्बन्ध का क्या रहस्य है। इस पर विचार करने के पहले हम यह उचित समझते हैं कि छन्द-विषयक कुछ भ्रामक धारणाओं का अन्त हो जाय। कुछ लोग समझते हैं कि काव्य में छन्द एक बाह्य संस्कार है, जो ऊपर से उस पर आरोपित कर दिया जाता है। छन्द का स्वतः कोई स्वरूप नहीं होता। वह किसी अभिव्यक्ति के साथ ही प्रकट होता है, न आगे, न पीछे। कुछ लोग छन्द को साँचा समझते हैं और इन साँचों के रूप में ही अभिव्यक्तियाँ मानते हैं। यदि हम काव्य को कवि की सहजानुभूति की अभिव्यक्ति मानते हैं, तो किसी निश्चित साँचे से काम नहीं चल सकता। एक कवि के अन्तर्जगत् की अनुभूति ठीक दूसरे की तरह नहीं होती या हो सकती। ऐसी दशा में एक कवि की अभिव्यक्ति का साँचा, दूसरे के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। पर, ऐसा हम नहीं मानते। हमने देखा है कि एक ही

लय और छन्द का सम्बन्ध

तरह के छन्द में भिन्न-भिन्न कवियों ने विभिन्न रचनाएँ की हैं। फिर इसमें तथ्य क्या है? वाणी की अभिव्यक्ति का आधार भाषा है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में तरह-तरह के मत-मतान्तरों पर ध्यान रखकर भी यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि भाषा एक स्वाभाविक शक्ति है। सभ्यता के साथ-साथ भले ही उसका व्यावहारिक विकास होता गया हो, उसमें तरह-तरह के नियम-अपवाद बनाये गये हों, परन्तु तथ्य रूप में वह प्राकृतिक है। छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन डाल दिया गया है। भिन्न-भिन्न स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के लिए कोई आदर्श साँचा तैयार नहीं किया जा सकता। जितने प्रकार की अभिव्यक्तियाँ लय के सामञ्जस्य के साथ हो सकती थीं, उनका विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि भावों को प्रकाशित करने के लिए जो विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है, उससे अधिक के लिए अब गुञ्जाइश नहीं। छन्दों की संख्या बढ़ायी जा सकती है, किन्तु इस धारणा से नहीं कि पुराने छन्द आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गए हैं। यदि छन्दों का नया-पुराना होना सम्भव हो, तो पुरानी वर्णमाला को भी हटाकर नयी ध्वनियाँ निश्चित कर लेनी चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य के मनोविज्ञान में भी कुछ मूल व्यतिक्रम होना चाहिए। किन्तु, मनुष्य यहाँ अपना पराजय समझता है। वर्ण के चिह्न में हम भले ही कतरव्योंत करते रहें, लेकिन उच्चारण की ध्वनियाँ कुछ ऐसी निश्चित-जैसी हैं, जो सम्मेलनों के

छन्द का स्वरूप

नया और पुराना छन्द

प्रस्तावों से तनिक भी प्रभावित नहीं हो सकतीं। मनोविज्ञान के विषय में भी यही बात है। यदि काव्य-रचना के लिए नये छन्द-विधान की अनिवार्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की जाय, तो उससे पहले इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए—क्या पुराने छन्द-विधान में आवद्ध कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, देव, विहारी को हम भूल सकते हैं? क्या हम शाकुन्तल, उत्तर रामचरित, रामायण, सूरसागर, प्रियप्रवास, साकेत, यशोधरा, कामायिनी, कुरुक्षेत्र में वर्णित जीवन-वृत्त की उपेक्षा कर सकते हैं? यदि नहीं, तो फिर काव्य में न छन्द पुराना है, और न जीवन का उल्लास-विषाद। सच्ची वात यह है कि प्रत्येक छन्द, जिसकी कुछ मर्यादा निश्चित कर दी गई है, विषय तथा कवि के व्यक्तित्व के साथ एकांत रूप से वदल जाता है। भाषा की अर्जित शक्ति के साथ कवि के व्यक्तित्व की शक्ति मिल जाने से छन्दगत अभिव्यक्ति का सौन्दर्य वढ़ जाता है। प्राचीन और नवीन का भेद, काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि की आवश्यकता से अधिक, कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से ही सम्वन्ध रखता है।

लय का स्वरूप और जातीय संस्कृति

प्रत्येक जाति, अन्यान्य धारणाओं के साथ, लय की भी एक धारणा रखती है और यह धारणा जातिगत, देशगत, कालगत और संस्कारगत होती है। स्वर के आरोह और अवरोह, दो गतियों से ही उसके अगणित भेद हो गए हैं, जो धारणा और संस्कार की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूप में वदल गये हैं। भारतवर्ष को यूरोप का गाना जितना विचित्र लगता है, उतना ही चीन को भारतवर्ष का। इस प्रकार प्रत्येक देश और जाति की अपनी संस्कृति है,

अपनी धारणा है, जिसके आधार पर यहाँ लय का विकास हुआ है। यह विकास ही प्रत्येक देश और जाति की भाषागत लय के मूल तत्त्व को काव्य-रस में आधार रक्खा गया है, जिससे लय का भावात्मक सौन्दर्य प्रकाशित होता है। मूलतत्त्व की यही विकासोन्मुख नवीनता लय में जीवन और सौन्दर्य देती है। लय की विशेषता जीवन के साथ उसका लगा रहना है। प्रकृति के विशाल क्षेत्र में—स्थावर-जंगम सब में, जहाँ जीवन है, वहाँ लय अवश्य है। नदी में, निर्झरिणि में, पेड़-पौधे में, लता-गुल्मों में, सर्वत्र लय-ही-लय है। मनुष्य की भावनाओं में भी लय है। जीवन-शक्ति का सारतत्त्व ही लय है। इसी कारण मनुष्य के उत्कट विषाद और हर्ष में भी जो उच्छ्वास निकलते हैं, उनमें गुरुत्व तथा लघुत्व के कारण लय की तरंगें खेलती हैं। गान के स्वर और लय को सुन कर अन्तर की रागिनियाँ इतनी तन्मय हो जाती हैं, भावनाएँ इतनी घनीभूत हो जाती हैं कि वर्त्तमान के केन्द्र में ही हमारी सारी सत्ता रमण करने लगती है, अगले पद की उत्सुकता जागरित नहीं होती। गूंजते स्वर की पृष्ठभूमि पर नई-नई सुकुमार भावनाएँ उठ-उठकर एक रमणीय विश्व बनाने लगती हैं। काव्य में इसके दृष्टांत बहुत मिलते हैं; क्योंकि वहाँ जीवन का ही प्रधान व्यवसाय है।

लय की प्रकृति

स्पन्दन, कम्पन या गति का नाम ध्वनि या शब्द है। आकृतियाँ भी इसी ध्वनि या शब्द की गतियों से उत्पन्न हुआ करती हैं। अव्यक्त जगत् में प्रत्येक ध्वनि की एक विशिष्ट आकृति होती है और टेढ़ी-मेढ़ी, सीधी रेखाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्रों

का निर्माण करती हैं। वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान से यह प्रमाणित किया है कि विशिष्ट संगीत-मन्त्रों से ऐसी ध्वनियाँ निकलती हैं, जिनके आघात-मात्र से आकृतियाँ बन जाती हैं। जोर से शब्दोच्चारण न करने पर भी, उसकी कल्पना-मात्र से ही, स्वर-यन्त्र तदनुकूल स्पन्दित हो जाते हैं। सङ्गीत में लय की यही विभूति है। हिन्दू-सङ्गीत-शास्त्र में राग-रागिनी का विधान इसी प्रकार जीवन के जीवित तत्त्वों के आधार पर हुआ है। अव्यक्त जगत् की ये आकृतियाँ कोई कल्पना नहीं, प्रत्युत् एक प्रामाणिक तथ्य है[1]।

ध्वनि और उसकी विशेपता

तन्मात्राओं की दृष्टि से भी इसका विवेचन किया जाय, तो यह सिद्ध है कि अन्तःकरण प्रकृति के सूक्ष्म द्रव्य मूलतत्त्वरूप तन्मात्राओं से बना है। मन वायु तन्मात्रा से बना है, अतः वह वायु की तरह ही शून्य में घूमनेवाला, अत्यन्त चञ्चल है। बुद्धि अग्नि तन्मात्रा से, चित्त जल तन्मात्रा से और अहंकार पृथ्वी तन्मात्रा से बना है। जो मूलतत्त्व जितना ही सूक्ष्म रहता है, वह उतना ही प्रबल होता है। जल अधिक सूक्ष्म होने के कारण, पृथ्वी तत्त्व

अन्तःकरण और पञ्च तन्मात्राएँ

---

१. कुमारी वाट्स ह्युग्स (Miss Watts Hughes) ने अपनी 'ध्वनिरूप' (Voice figures) पुस्तक में अपने यांत्रिक प्रयोगों से इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। यंत्र का नाम ईडोफोन (Eidophone) है, जिसमें एक ध्वनिग्राहिणी नली (Receiver) लगी हुई है। नीचे की ओर एक प्रसारण तथा संकुचनशील लचीली झिल्ली है। ईडोफोन यंत्र पर जिस समय जो राग या रागिनी छेड़ी जाती है, उस समय उस राग या रागिनी की एक विशिष्ट आकृति, ध्वनि-विशेष के अनुरूप, यंत्र पर अंकित हो जाती है।

से अधिक गतिमान है और वह पृथ्वी को गला देता है। अग्नि जल से अधिक सूक्ष्म होने के कारण, उसे सुखा देता है। वायु अग्नि से अधिक सूक्ष्म होने के कारण उसे बुझा देती है। आकाश उससे भी अधिक सूक्ष्म होने के कारण वायु को अपने में विलय कर लेता है; क्योंकि आकाश ही वायु का अधिष्ठान है। आकाश का गुण-रूप व्यापी ध्वनि या शब्द ही है। तदनुसार सूक्ष्म ध्वनि से सभी तत्त्वों पर अधिकार किया जा सकता है और इस प्रकार मन की चंचल वृत्तियों का निरोध कर, इच्छित प्रभाव की प्रतिष्ठा भी की जा सकती है।

छन्द का विधान

हमारे यहाँ के छन्द, 'घुणाक्षर न्याय' के अनुसार, अटकल पर ही नहीं बनाए गए। उनके भीतर कुछ तत्त्व है, और वह तत्त्व जीवन के रक्षणात्मक और मनोरंजनात्मक तत्त्वों के साथ सम्बन्ध रखता है। वर्णिक छन्दों का विधान नाद-सौन्दर्य की विशेषता पर अवलम्बित है[1]। उनके भीतर लय की जो स्थिति है, वह कोई बाहरी चीज नहीं, प्रत्युत् जीवन के ही तत्त्वों के अनुसार निर्माण किया हुआ भाषा का बन्धन है। लय-सौन्दर्य के अनुरूप ही ये बन्धन बनाए

---

१. छन्द का अर्थ बन्धन या नियमबद्धता माना जाता है। उपनिषद् में छन्द का अर्थ और प्रयोजन एक दूसरे ही रूप में माना गया है।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभि-रच्छादयं-स्तच्छंदसां छन्दस्त्वम्। (छांदोग्य, १।४।२)

मृत्यु से भय मानते हुए देवताओं ने त्रयी विद्या (वेद) में प्रवेश किया और अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। इसी कारण मन्त्रों का नाम छन्द है।

गए हैं और इनसे काव्य को दीर्घायु प्राप्त होती है। चलते हुए झरने का जो स्वर है, उससे, आधारभूमि को एक व्यवस्थित क्रम से उच्च, निम्न तथा समतल और विस्तृत तथा संकुचित, बनाकर कई प्रकार के स्वर निकाले जा सकते हैं। प्रत्येक भाषा का भी एक स्वाभाविक स्वर है और इससे, कई प्रतिबन्धों से, भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं। भाषा-प्रयोग के ये प्रतिबन्ध वस्तुतः बन्धन नहीं, प्रत्युत् धनुष की चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा की तरह उसकी शक्ति को बढ़ानेवाले हैं। नदी की स्वाभाविक धारा से जो काम न चल पाता, वह उसकी गति के क्षेत्रों को कमकर, बाँधकर, अधिक तेज बनाकर किया जाता है और इस प्रकार शक्ति पैदा करने का वह एक अद्भुत् साधन बन जाती है। साधारण वाक्य में जो प्रवाह और क्षमता लक्षित नहीं होती, वह छन्द-व्यवस्था से पैदा कर ली जाती है। परस्पर की बातचीत में बिना पूछे ही 'दाल-भात में मूसरचन्द बनना' और उपदेश दे बैठना कितनी अशिष्टता है, पर छन्दों की ओट में यह कहना—'बिन पूछे ही कहत हैं सज्जन हित के बैन'—दोष का कितना परिहार कर देता है।

काव्य और छन्द में जो सम्बन्ध है, वह अविच्छिन्न और अनिवार्य नहीं है। काव्य का साधारण अर्थ उसके पद्यात्मक रूप से माना जाता है, किन्तु काव्यत्व इसी रूप में आबद्ध नहीं, वह गद्यात्मक भी हो सकता है। गद्य और पद्य का मौलिक भेद बुद्धि और हृदय की क्रिया का है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोनों एक दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अलग रहकर ही क्रिया-तत्पर होते हैं। गद्य

काव्य और छन्द का सम्बन्ध

बुद्धि-प्रधान होता है और पद्य हृदय-प्रधान। यहाँ काव्यत्व की सीमा को हमने विवेचन की सुविधा के लिए पद्य में ही सीमित कर दिया है। गद्य-रचना के लिए छन्द का कोई प्रतिबन्ध नहीं, बल्कि छन्द से भिन्न रहकर ही उसकी रचना होती है। पद्य की रचना के लिए छन्द एक आवश्यक प्रतिबन्ध है, अनिवार्य भी हम कह सकते हैं, यदि दो एक वर्तमान क्रान्तिकारी कवि को इसमें विशेष आपत्ति न हो। काव्यत्व का क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों है, किन्तु पद्य की तरह स्वभावतः काव्यत्व की पहुँच गद्य में नहीं होती; क्योंकि उसमें अनेक ऐसे विषयों का विवेचन या वर्णन तर्क-संयुक्त रहता है, जो बुद्धि की प्रधानता से ही सम्भव है।

भारतीय काव्य, जिसका श्रीगणेश ही छन्द-बद्ध रचना से, अनायास या सप्रयास, हुआ है, गद्य को काव्यत्व की मर्यादा नहीं दे सका। उस समय गद्य का व्यवहार भी कुछ काव्य-कृति के नाम पर, नाटक की कुछ गद्यात्मक पंक्तियों के अतिरिक्त, नहीं होता था। आज से प्रायः सवा हज़ार पहले महाकवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी की रचना कर इस प्रचलित आस्था पर आघात किया और उनकी गद्यात्मक रचना के सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर आचार्यों ने गद्य में भी काव्यत्व को स्वीकार किया। उस समय से ही काव्यत्व का क्षेत्र गद्य और पद्य दोनों माना जाता है; किन्तु लय और छन्द का सम्बन्ध पद्यात्मक काव्य के ही साथ है और इस अध्याय में हम इसी विषय का विवेचन करेंगे।

काव्यत्व की प्रतिष्ठा

हमें मनुष्य की उन स्वाभाविक वृत्तियों का विवेचन करना है, जिनसे लय की उत्पत्ति होती है। जीवन में सुख-दुख का प्रभाव

भिन्न-भिन्न रूप से पड़ता है और उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होती हैं। हर्ष के समय नसों में रक्त-सञ्चालन तीव्र हो जाता है और विषाद में वह शिथिल पड़ जाता है। मनुष्य हर्षोत्फुल्ल होकर जो उछल-कूद मचाता है, उसकी प्रेरणा नाड़ियों की गति देती है। अपने उल्लास की व्यञ्जना मनुष्य अपनी उन शारीरिक क्रियाओं से करता है, जिसे नृत्त कहते हैं। नृत्त के इसी ताल का आरोप वाद्य पर किया गया है, जो अपने सहयोग से मनुष्य की उमङ्गों को अधिकतर तीव्र कर देता है। नृत्त का यही क्रियात्मक लक्षण वाद्य में ताल की ध्वनि पर उतरा है[1]। अनन्तर वाद्य की इसी लय का आरोप भाषा पर किया गया है, जिसका नियमन छन्द के द्वारा होता है।

लय की उत्पत्ति और उसके कारण

लय का आरोप भाषा पर

इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि वाद्य की लय का पूरा सामञ्जस्य भाषा के साथ नहीं हो सका है। इसके सम्बन्ध में दो बातें हैं, एक तो भाषा की अपनी स्वाभाविक लय-शक्ति है, जो किसी भी प्रकार के वाह्य प्रभाव से यथासम्भव अपने को मुक्त रखने में समर्थ रही, और दूसरी कोई भी वाहरी शक्ति दूसरे पदार्थ पर पूरी तरह व्याप्त भी नहीं हो सकती। संस्कृत-काव्य में श्लोकों की श्रुति-मधुरता वहुत-कुछ भाषा की निजी सम्पत्ति है। हिन्दी के आरम्भिक

---

१. नृत्त और नृत्य में भेद है। 'भवेद्भावाश्रयं नृत्तं, नृत्यं ताललयाश्रयम्' जिसमें भाव मुख्य हो वह नृत्त; और जिसमें ताल तथा लय का आश्रय हो, उसे नृत्य कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से नृत्य के १०८ भेद माने गये हैं, किन्तु यहाँ उन भेदों के विवेचन का कुछ प्रयोजन नहीं है।

है। पद्य में यही तत्त्व पीछे विकसित होकर आ मिला है। पद्य या काव्य का सम्बन्ध गान से कुछ बातों में अपेक्षाकृत अधिक निकट मालूम पड़ता है। किन्तु, लय की उत्पत्ति गान से नहीं है। लय गान से पहले की अवस्था है। बिना पद की सहायता से भी लय की गति व्यक्त की जा सकती है। बिना अर्थ जाने हुए ही संस्कृत के श्लोकों को गुन-गुनाते हुए मैंने बहुतों को देखा है। बाँसुरी की तान या वीणा की झंकार में पद तो अव्यक्त रहता है, किन्तु उसकी लय की गतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

लय और संगीत

ताल पर नाचने की क्रिया से भी यह प्रकट है कि लय अपनी अभिव्यक्ति के लिए पद को कोई अनिवार्य साधन नहीं समझती। मनुष्य की यही लयात्मक प्रवृत्ति स्वरैक्य तथा समरूपता को पद पर आरोपित कर देती है और इस प्रकार पदावली अधिक भावुकतापूर्ण तथा स्मरणीय हो जाती है। इसके साथ यह भी याद रखने की बात है कि भाषा का जो अपना बोधात्मक पक्ष है, वह स्वतः लय-सम्पन्न रहता है। मनुष्य की लयात्मक प्रवृत्ति उसको अधिकतर श्रुति-मधुर तथा प्रभविष्णुतापूर्ण बनाने की इच्छा से ताल के ढङ्ग पर पद-विन्यास करती है और उससे इच्छित स्वर-साधनकर छन्द की मुहर बैठा देती है। इस प्रकार छन्द एक स्वाभाविक प्रवृत्ति का कृतिम बन्धन है। यह कृत्रिमता स्वाभाविक लय के स्वरैक्य तथा समरूपता की रक्षा के प्रयत्नस्वरूप होती है। भाषा की जो स्वाभा-विक लय-प्रवणता है, वह कभी-कभी छन्दों का बन्धन ढीला पाकर स्वतः गतिमय हो जाती है। जैसे—

पद और लय

कहीं पे स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है;
सुरों की संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीणता है।
निराली लय है औ लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है॥

—श्रीधर पाठक

इस प्रकार एक दूसरा उदाहरण भी है, जहाँ भाषा की स्वाभाविक लय-शक्ति छन्द में आबद्ध होकर उसकी लय के साथ-साथ गतियाँ उत्पन्न करती है—

ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुटमनि स्यामा आजु बनी।
नख-सिख लौं अंग-अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गूँथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चन्द्रिकन बीच अरध बिधु मानौं ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भृकुटि काम-कोदण्ड नैन सर कज्जल रेख - अनी॥
भाल तिलक ताटंक गंड पर नासा जलज मनी।
दसन कुन्द सरसाधर पल्लव पीतम-मन-समनी॥
हित हरिवंश प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत स्रवननि सुनत सुखाकर बिस्व-दुरित-दवनी॥

—हित हरिवंश

भारतीय साहित्य में पद्यबद्ध काव्य का मूल आदिकवि वाल्मीकि की उस करुणा-प्रेरित अभिव्यक्ति से माना जाता है, जो उन्होंने तमसा नदी के किनारे काम-प्रमत्त क्रौंच-दम्पति में से एक नर क्रौंच का वध व्याध द्वारा होते देख तथा वियुक्त क्रौंची के विदग्ध विलाप को सुनकर निकाली थी—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

यह कह चुकनेपर, इसका अर्थ मन ही मन विचारने के बाद ऋषि वाल्मीकि को बड़ी चिन्ता हुई और तब उन्होंने अपने समीपस्थ शिष्य भरद्वाज से कहा—

"पादबद्धोऽक्षरामस्तंत्रीलय समन्वितः ।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतुन्यान्यथा ॥"

देखो, यह श्लोक मैंने शोकार्त्त हो उच्चरित किया है। इसमें चार पाद हैं, प्रत्येक पाद में समान अक्षर हैं और यह वीणा पर भी गाया जा सकता है। अतः यह मेरा यशोरूप हो।

अनुष्टुप् छन्द में प्रतिष्ठित यह वाणी वीणा पर भी गेय है। इससे यह सिद्ध होता है कि वीणा की लय छन्द-विधान से पहले ही निश्चित हो चुकी थी[1]। सारी रामायण ही लव-कुश ने वीणा पर गाई है। कवि की वाणी ने स्वयं अपना लक्षण साधारण रूप से बता दिया है और 'तन्त्री-लय-समन्वित' कर श्लोक की रागात्मक विभूति बढ़ा दी है। छन्द-शास्त्र के अनुसार श्लोक अनुष्टुप् के चारों चरणों में पाँचवां वर्ण लघु तथा छठा दीर्घ होता है। समपदों में सातवाँ भी लघु रहता है। अन्य वर्णों के लिए अपवाद रखकर इसमें विशेष

लय और छन्द-विधान

१. अंग्रेजी में लीरिक कविता (Lyrics) का छन्द-विधान Lyre (वीणा) शब्द से ही प्रतिपादित होता है, जिससे प्रमाणित हो जाता है कि उक्त ढङ्ग की रचना वीणा का स्वर निश्चित हो जाने के बाद ही हुई। हिन्दी में ऐसी कविताएँ मुक्तक कही जाती हैं। रस-पद्धति के अनुसार नामकरण बहुत उपयुक्त है, किन्तु लय की दृष्टि से अंग्रेजी लीरिक कविता की तरह इन्हें वैणिक कहना भी अनुपयुक्त न माना जायगा।

'म भ न त त ग ग' का समन्वय है। इसका ध्वनि-विश्लेषण इस प्रकार है—

SSS—SII—III—SSI—SSI—SS

ध्वनि-सामञ्जस्य के साथ पद-योजना इस प्रकार की जाती है—

सूखा जाता कमलमुख था होंठ नीला हुआ था।

SS SS III II S SI SS IS S

दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रही थीं।

SS SS III II S SIS S IS S

एक और वृत्त का उदाहरण ले लीजिए—

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था
वसुन्धरा थी कमनीयतामयी
विचित्रता साथ विराजिता रही
वसन्त वासन्तिकता वनान्त में
नवीनभूता वन की विभूति में
विनोदिता वेलि विहंग वृन्द में
अपूर्वता व्यापित थी वसन्त की
निकुञ्ज में कूजित कुञ्ज-पुञ्ज में —हरिऔध

यह वंशस्थ नाम का वर्णिक छन्द है। गण-विचार से यह 'ज त ज र' का समन्वय है। इसका ध्वनि-विश्लेषण इस प्रकार किया जाता है—

ISI—SSI—ISI—SIS

लघु-गुरु के अनुसार पदावली के वर्ण इस प्रकार खपते हैं—

विमुग्धकारी मधु मंजु मास था।

IIS SS II SI SI S

वसुन्धरा थी कमनीयता मयी।

।S। S S ।।S।S ।S

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया है कि वर्णवृत्त लय की एक निश्चित प्रणाली पर बँधे हुए चलते हैं। एक पंक्ति के साथ दूसरी पंक्ति का लयात्मक सम्बन्ध रहता है। नदी के वक्षःस्थल पर हवा के झोंके से जो कभी हल्की तरंगें और कभी उत्ताल तरंगें उठती हैं, वे एक-दूसरे से अपनी समानता रखती हैं। यदि तरंगों में किसी प्रकार की एकता न रहे, तो वे न तो अपनी सत्ता प्रकट कर सकती और न मनोमुग्धकर बन सकती हैं। पद-योजनाएँ भी लघु-गुरु के अनुसार अगणित रूप से की जा सकती हैं और उनके अनेक नामकरण किये जा सकते हैं, किन्तु छन्द-शास्त्र में कुछ सर्वमान्य निश्चित योजनाएँ ही रखी गयी हैं। लयात्मक वृत्ति के आधार पर पद-विधान का भविष्य खुला हुआ है। कृतविद्य कवि, जिन्हें मनुष्य की उन वृत्तियों की पहचान है, जो आकर्षण के तत्त्व पर केन्द्रित होती हैं, किसी प्रकार की प्रणाली को निश्चित कर वर्णिक छन्द की प्रतिष्ठा कर सकते हैं।

लय का विवेचन

मात्रिक छन्द का विधान भी मूल-रूप से लघु-गुरु वर्ण या मात्रा के ऊपर निर्भर करता है, परन्तु वर्णिक की तरह इसमें एक पंक्ति के साथ दूसरी पंक्ति का क्रमागत लयात्मक सम्बन्ध नहीं रहता। इसमें भी ध्वनि की मात्राएँ निश्चित रहती हैं, किन्तु एक-एक ध्वनि-समूह को वाह्य खण्ड मानकर लघु या गुरु मात्रा को अनिवार्य कर प्रत्येक पंक्ति की लयात्मक समानता प्रतिभासित कराई जाती है।

मात्रिक छन्द का लय-विन्यास

प्रत्येक चरण में निश्चित स्थल पर, निश्चित मात्रा, लघु या गुरु, रखी जाती है। ऐसे ही निश्चित स्थलों के अन्य की ध्वनि का व्यतिक्रम इसमें उल्लेखनीय नहीं माना जाता। निश्चित क्रम के अनुसार पद में लघु-गुरु का सन्निवेश स्वतः एक ऐसा लयात्मक स्वर उत्पन्न कर देता है, जो अपने आवरण में कुछ ध्वनियों की अनियमितता को छिपा लेता है।

> क्षत्राणियों के अर्थ भी सब से बड़ा गौरव यही—
> सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिये जो आप ही।
> जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालती—
> होकर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालती।
>
> —मैथिलीशरण गुप्त

यह मात्रिक छन्द हरिगीतिका है। इसमें कुल अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं, किन्तु सोलह और बारह मात्राओं पर विराम पड़ते हैं। प्रत्येक चरण में लय के सञ्चरण के लिए पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं तथा छब्बीसवीं मात्राएँ लघु रहती हैं। अन्तिम दो मात्राओं में पहली लघु और दूसरी दीर्घ होती है। इस प्रकार इस छन्द का लयात्मक रूप ऐसा होता है—

> क्षत्रा णि यों के अ र्थ भी सब, से बड़ा गौरव य ही।
> सज्जि त करें पति पु त्र को रण, के लिये जो आ प ही
> जो वी र पति के कीर्त्ति - पथ में, विघ्न बाधा डाल ती
> होकर सती भी वह कहां क, र्त्त व्य अपना पाल ती

ऊपर के विश्लेपण से यह प्रकट है कि अट्ठाईस मात्राएँ होने से ही हरिगीतिका छन्द का सारा काम नहीं चल जाता, प्रत्युत् निश्चित स्थान पर लघु-दीर्घ तथा विराम के अवस्थान अनिवार्य

हैं। मात्रिक छंद में केवल मात्राओं की संख्या ही निश्चित कर देना काफी नहीं है, लय-विधान के लिये उसमें स्वर के कुछ नियमों का पालन भी आवश्यक है। इसको अधिकतर स्पष्ट करने के विचार से अट्ठाईस मात्राओं का ही एक दूसरा मात्रिक सार छन्द देखिये—

काँटों के पथ में भी कैसा है आलोक निराला,
जिससे क्लेश न पाता है वह दौड़ लगानेवाला,
है कोई जो जरा दयाकर मुझको यह बतला दे,
कैसे अमर बनाता उसको विष का तीखा प्याला।
क्या देखा उसने जो जग की ममता को बिसराया,
निकल पड़ा लू की लपटों में तजकर शीतल छाया।
जग की मोहकता ने उसको चाहा खूब रिझाना,
रोक न सके मिले सब जाकर अपना और पराया।

—'कैरव'

सार छंद में भी हरिगीतिका की तरह अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं और उसी प्रकार सोलह और बारह मात्राओं पर विराम होते हैं, किन्तु चरण के अन्त में दो दीर्घ वर्णों के अतिरिक्त हरिगीतिका जैसा मध्यवर्त्ती लघुत्व के निश्चित नियम नहीं हैं। यह नियम लय पर कितना आधिपत्य रखते हैं, यह बात दोनों छन्दों को मिलाकर पढ़ने या सुनने से स्पष्ट हो जाती है। हरिगीतिका में अट्ठाईस मात्राओं के आदि-अन्त दो बिन्दुओं के बीच कई लयात्मक तरङ्गें उठती हैं, जो स्वर की मध्य-रेखा के ऊपर-नीचे जाकर लचक उत्पन्न करती हैं, परन्तु सार छन्द में स्वर की मध्य-रेखा लगभग एक तरह से ही विराम पर कुछ रुकती हुई चली जाती है।

जिसे पूर्वापर विरोध के रूप में मुक्त छन्द कहा जाता है। यह एक पद्य-हीन व्यवस्था है। एक क्रान्तिकारी योजना के रूप में हिन्दी में यह प्रविष्ट कराया गया है। शुरू-शुरू हिन्दी में जयशङ्कर प्रसाद ने मुक्तवृत्त के अनुसार रचना की थी, किन्तु अब निराला इसके मुख्य पुरोहित माने जाते हैं। यह पश्चिमी बीज का पूर्वी अङ्कुर है। अमेरिकन कवि वाल्ट व्हिटमैन (Walt Whitman) ने छन्द-बद्धता की प्रतिक्रिया से छन्द-हीन कविता का श्रीगणेश अंग्रेजी में किया और अपनी आरम्भिक कविताओं का एक संग्रह 'घास की पत्तियाँ' (*leaves of grass*) के नाम से प्रकाशित कराया। 'घास की पत्तियाँ' जैसे सब बराबर नहीं होतीं, कोई बड़ी और कोई छोटी, वैसे ही ऐसी कविताओं की पङ्क्तियाँ सब समान नहीं होतीं, कोई बड़ी और कोई छोटी होती हैं। इस संग्रह के प्रकाशन के बाद भी उनकी काव्य-रचना अपने ढङ्ग पर चलती रही। स्वेज-नहर खुल जाने पर उन्होंने 'भारत का पथ'[1] शीर्षक एक लम्बी

मुक्त छन्द का श्रीगेश

---

१. Passage to India एक लम्बी रचना है। उदाहरण के लिये उसकी कुछ पङ्क्तियाँ उद्धृत कर दी जाती हैं—

Passage to India !
Struggles of many a captain, tales of many a sailor dead,
Over my mood stealing and spreading they come.
Like clouds and cloudlets in the unreacted sky.

* * * *

O we can wait no longer,
We too take ship, O soul.
Joyous we too launch out on trackless seas,
Fearless for unknown shores on waves of ecstasy to sail.

अन्तिम विराम के स्थान पर दो दीर्घ वर्णों के उच्चारण से, श्वास-सम्पत्ति का, जो मध्यवर्त्ती क्षणिक विराम से थोड़ी शक्ति सञ्चित कर लेती है, ह्रास हो जाता है। लय-विज्ञान की यही विशेषता समान मात्राओं के छन्दों में भी भिन्न स्वर उत्पन्न कर देती है।

अब एक तीसरा मात्रिक वीर छन्द का उदाहरण लीजिए—

कभी लोभ-सी लम्बी होकर कभी तृप्ति-सी होकर पीन,
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम सजनि नापती हो स्थिति हीन।
श्रमित, तृषित अवलोक पथिक को रहती हो यों दीन-मलीन,
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि विश्व-वेदना में तल्लीन।

*　　*　　*　　*

गाओ-गाओ विहग-बालिके तरुवर से मिल मंगल-गान
मैं छाया में बैठ तुम्हारे कोमल स्वर में कर लूँ स्नान।
हाँ, सखि आओ, बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ावें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान।

—सुमित्रानन्दन पन्त

यह इकत्तीस मात्राओं का वीर छन्द है। इसमें आठ-आठ तथा पन्द्रह मात्राओं पर विराम और अन्त में गुरु तथा लघु मात्राएँ होती हैं। इसमें भी स्वर की मध्य-रेखा लय की दो-तीन तरङ्गें ऊपर-नीचे देती हुई, अन्तिम विराम पर उच्छ्वसित हो उठती है। ढोल की गम्भीर चोट पर फड़कता हुआ अल्हैतों का यह गीत कितना वीर और दर्पपूर्ण है—

बारह बरिस लै कूकर जीएँ और तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार॥

वर्णिक तथा मात्रिक के अतिरिक्त एक प्रकार का और छन्द है,

जिसे पूर्वापर विरोध के रूप में मुक्त छन्द कहा जाता है। यह एक पद्य-हीन व्यवस्था है। एक क्रान्तिकारी योजना के रूप में हिन्दी में यह प्रविष्ट कराया गया है। शुरू-शुरू हिन्दी में जयशङ्कर प्रसाद ने मुक्तवृत्त के अनुसार रचना की थी, किन्तु अब निराला इसके मुख्य पुरोहित माने जाते हैं। यह पश्चिमी वीज का पूर्वी अङ्कुर है। अमेरिकन कवि वाल्ट व्हिटमैन (Walt Whitman) ने छन्द-वद्धता की प्रतिक्रिया से छन्द-हीन कविता का श्रीगणेश अंग्रेजी में किया और अपनी आरम्भिक कविताओं का एक संग्रह 'घास की पत्तियाँ' (leaves of grass) के नाम से प्रकाशित कराया। 'घास की पत्तियाँ' जैसे सब वरावर नहीं होतीं, कोई वड़ी और कोई छोटी, वैसे ही ऐसी कविताओं की पङ्क्तियाँ सब समान नहीं होतीं, कोई वड़ी और कोई छोटी होती हैं। इस संग्रह के प्रकाशन के वाद भी उनकी काव्य-रचना अपने ढङ्ग पर चलती रही। स्वेज-नहर खुल जाने पर उन्होंने 'भारत का पथ'[1] शीर्षक एक लम्वी

मुक्त छन्द का श्रीगणेश

---

१. Passage to India एक लम्वी रचना है। उदाहरण के लिये उसकी कुछ पङ्क्तियाँ उद्धृत कर दी जाती हैं—

Passage to India !
Struggles of many a captain, tales of many a sailor dead,
Over my mood stealing and spreading they come.
Like clouds and cloudlets in the unreacted sky.

*　　*　　*　　*

O we can wait no longer,
We too take ship, O soul.
Joyous we too launch out on trackless seas,
Fearless for unknown shores on waves of ecstasy to sail.

पद्यहीन कविता रची। अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क से इस स्वच्छन्दता की हवा वंगला को लगी और फिर उसकी पड़ोसिन हिन्दी भी प्रभावित हुई।

छन्द-विधान में क्रान्ति की सापेक्ष्यता

जीवन में प्रतिक्षण क्रान्ति होती रहती है। काव्य का क्षेत्र भी इससे भिन्न नहीं। मनुष्य में साधारणतः दो तरह की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग भले-बुरे से निरपेक्ष रहकर प्राचीनतावादी होते हैं और किसी भी प्रकार के परिवर्त्तन का विरोध करते हैं; क्योंकि उनकी समझ से परिवर्त्तन अतीत का अपमान है। दूसरे ढङ्ग के लोग नवीनता के नाम पर विवेक-शून्य होकर सर्वग्राही बनते हैं। इनकी समझ में नवीनता ही जीवन है। इन दोनों से भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के लोग भी हैं, जो हिताहित के विचार से ही प्राचीनता तथा नवीनता का स्वागत करते हैं। हमारे जीवन में कुछ क्रान्तियाँ ऐसी होती हैं, जो धीरे-धीरे परिवर्त्तन करती जाती हैं और हम उनका तीव्र विरोध नहीं करते, कुछ कर भी नहीं सकते। इच्छा या अनिच्छा से अपने सामने वैसा ही वातावरण देखकर उसमें प्रवाहित हो जाते हैं। वैज्ञानिक सभ्यता ने हमारे रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान—यहाँ तक कि कुछ अंशों में भाव-विचार की वाह्य-अभिव्यक्ति में भी इतनी क्रान्ति कर

Passage to more than India.
Are they wings pluned indeed for such far fights ?
O Soul, voyagest thou indeed or voyages like those ?
Disportest thou on waters such as those
Soundest below the Sanskrit and the Vedas
Then have thy bent unleash'd

—Walt Whitman.

दी है कि परम्परागत प्राचीन मानव के साथ जब हम अपने आधुनिक जीवन की तुलना करते हैं, तब अन्तर स्पष्ट हो जाता है। परम्परा या परिपाटी को अधिक दिनों तक यथासम्भव एकरस चलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके नियमों का विधान कर उस पर धार्मिकता का आवरण चढ़ा दिया जाय[1]। धर्म की स्थिति सत्य पर है, और सत्य चिरन्तन है; अतः धार्मिकता जिस परम्परा या नियम के साथ लिपटेगी, उसे अपनी शक्ति से बहुत दूर तक वह खींचती चली जायगी।

छन्द-विधान में धार्मिकता

पिङ्गल ने छन्द-शास्त्र का विधान किया और उस पर धर्म की मुहर लगाकर कवि-समाज के सामने रख दिया। जिस वस्तु में कुछ तथ्य रहता है, उसी को धर्म अपनी शक्ति के साथ खींचकर बढ़ा सकता है, किन्तु, तथ्यहीन वस्तु को धर्म रूढ़ि बनाकर भले ही खींचता चला जाय, उसमें जीवन की प्राञ्जलता नहीं झलकेगी। छन्द, जहाँ तक लय-तत्त्व का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूढ़िग्रस्त नहीं माना जा सकता। वह जीवन की चिरन्तन उद्भावना है। क्रान्ति वही सफल होती है और समझी जाती है जो जीर्ण रूढ़ि के स्थान में नवीन जीवन अनुप्राणित करने में समर्थ हो। मनुष्य की कृति में परिवर्त्तन करना सम्भव है और समयानुसार उसमें संशोधन, परिवर्द्धन या परिवर्त्तन करना भी

---

१. It is essential to every religion that its heritage should be treated as sacred. A society which puts a halo of sanctity round its tradition gains an inestimable advantage of power and permanance. The Vadic tradition became surrounded with sanctity and so helped to transmit culture and ensure the continuity of civilisation.

Sir S. Radhakrishnan: The Hindu View of Life, P. I8.

आवश्यक हो जाता है, किन्तु इसी अभ्यास के अनुसार यदि प्रकृति के क्षेत्र में भी क्रान्ति का शङ्ख फूँका जाय तो, प्रकृति की विभूति को भस्म करने की क्षमता के अभाव में, मानव-प्रयत्न ही नष्ट हो जायगा। जीवन में जो तत्त्व प्राकृतिक है, उसे कोई क्रांतिकारी आन्दोलन हिला नहीं सकता, लेकिन जो वाह्य और प्रक्षिप्त है, उसमें क्रांति सफल हो सकती है। इसी दृष्टिकोण से हम मुक्त छन्द की समीक्षा आवश्यक मानते हैं।

मुक्त छन्द और लय

छन्द से लय की स्वाभाविकता को हम हटा नहीं सकते; क्योंकि छन्द में प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाला यही तत्त्व है। बँधी हुई योजना को तोड़कर, लय के अवस्थान को विस्तृत तथा संकुचितकर, नया विधान वनाया जा सकता है, निश्चित प्रणाली के रूप में लय के आधार पर नये-नये छन्द वनाये जा सकते हैं, लेकिन छन्द के मूल तत्त्व—लय—के वहिष्कार से स्वयं प्रकृति—मानव प्रकृति-विद्रोह कर उठेगी! मुक्त छन्द की पंक्ति में मात्रा या वर्ण का न्यूनाधिक्य कोई खास वात नहीं है। पर उसके उच्चारण या अभिव्यक्ति की कोई ऐसी मर्यादा अवश्य रहनी चाहिए, जो जन-साधारण, कम-से-कम संस्कृत रुचिवाले को भी, रमा सके। केवल अनोखा या विस्मयकारक पदार्थ हृदय को प्रलुब्ध नहीं कर सकता। इससे उस वस्तु का महत्त्व भी बढ़ता नहीं। जब हमारा विस्मय या जिज्ञासा दूर हो जाती है, तब हमारे लिए उसमें कोई आकर्षण शेष नहीं रह जाता। गाँव में ऊँट आया ऊँट! चलकर देखा, उसके डील-डौल, उसकी वृत्तियाँ, बस इसके साथ ही उस अद्भुत् जीव का सारा अनोखापन जाता रहा। जीवन की इसी प्रवृत्ति के परितोष से काव्य का काम नहीं चल सकता।

उसे कुछ ऐसी वस्तु चाहिए, जो रमणीय हो, जिसमें चेतनता प्रवाहित हो सके और जो प्रत्येक क्षण नवीनता का सन्देश सुना सके।

मुक्त छन्द का विवेचन

कीर्त्ति-शेष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'पद्य-व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना वास्तव में पाश्चात्य ढङ्ग के गीति-काव्यों के अनुकरण का परिणाम है। हमारे यहाँ के संगीत में बँधी हुई राग-रागिनियाँ हैं, पर योरोप में सङ्गीत के बड़े-बड़े उस्ताद अपनी अलग-अलग नाद-योजना या स्वरमैत्री चलाया करते हैं। उस ढङ्ग का अनुकरण पहले बंगला में हुआ, वहाँ की देखा-देखी हिन्दी में भी चलाया गया[1]। मुक्त छन्द, भिन्न तुकांत या अतुकांत कविताओं की रचना प्रत्येक कवि ने अपने ढङ्ग से की है। एक की रचना के साथ दूसरे की समानता नहीं है। इसका कारण यही है कि किसी निश्चित विधान के अभाव में प्रत्येक कवि ने अपनी इच्छा के अनुकूल रचना-विधान माना है। मुक्त छन्द के स्वच्छन्द उन्नायक निराला के अनुसार 'जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नहीं रहते; न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृङ्खलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृङ्खला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त काव्य कह सकते हैं[2]।' किन्तु; यह तो कहने की बात है। वस्तुतः मनुष्य की कोई भी रचना शृङ्खला से खाली नहीं होती। अपने भाव, विचार, क्रिया—सब में एक तारतम्य है, सामंजस्य है। एक

१. शुक्ल—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ७७४।
२. निराला—परिमल, भूमिका, पृष्ठ २१।

व्यक्ति के साथ दूसरे का सामंजस्य स्पष्ट रूप में भले ही दिखलाया न जा सके, पर व्यक्तिगत ढङ्ग से प्रत्येक का कर्म शृङ्खलाबद्ध ही होता है। विराट् प्रकृति के भी निश्चित नियम हैं, फिर क्षुद्र मनुष्य उससे पृथक् कैसे हो सकता है! अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए यदि किसी नियम या शृङ्खला का आश्रय न लिया जाय, तो वर्ण, पद या वाक्य के द्वारा हम अपने को व्यक्त ही नहीं कर सकते, और यदि करें भी तो दूसरों के निकट उस विशृंखल अभिव्यक्ति का अर्थ ही क्या होगा। नियम ही अर्थ है। कविता के लिए तो प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त स्वर और लय का विशेष अर्थ भी आवश्यक है। निराला भी सामंजस्य की आवश्यकता को मानते हुए कहते हैं कि 'जिस तरह वेदों के बाद मुक्त भाषा व्याकरण से बँधती गई और अनेकानेक रूपों से, वेदों से भावजन्य सामंजस्य रखती गई है, उसी प्रकार सङ्गीत संस्कृत में आकर, छन्द-ताल-वाद्य आदि में बँध गया है और इस तरह सङ्गीत के अर्थ से समवेत सभ्यजनों के पवित्र आनन्द का साधक हो गया है'[1]।

कृत्रिमता और परम्परा

कृत्रिमता तथा परम्परा के बन्धन के नाम पर, छन्द के त्याग की बात चलती है। जिनमें प्राकृतिकता न हो, यदि ऐसी सभी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन चल निकले, तो कुछ नग्नतावादियों के अतिरिक्त; कृत्रिम परिधान के नाम पर वस्त्राभूषण का संहार करनेवाले कितने शुद्ध प्रकृतिस्थ मिलेंगे, यह कल्पना की बात है। इस कृत्रिमता का सम्बन्ध अब सभ्यता के नाम पर मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्ति के साथ हो गया है। सतत नियम-भङ्ग के लिये भी किसी

१. निराला—गीतिकाः भूमिका, पृष्ठ २।

की समीक्षा ही अभिष्ट है। इसमें न वर्णवृत्त है और न मात्रा-बन्धन, है केवल दोनों प्रणालियों का मूलोच्छेद !

इस प्रकार का एक और उदाहरण लें—

सोती थी
जाने कहाँ कैसे प्रिय आगमन वह
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल.
इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही,
अथवा मतवाली थी
यौवन की मदिरा पिये कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी—खिली
खेल रङ्ग प्यारे सङ्ग।

—निराला

ऐसी पद्य-व्यवस्था-हीन कविताओं में छन्द-बन्धन के त्याग का साहस तो है, किन्तु रीतिकाल की परम्परागत प्रवृत्ति से पुष्ट विभावत्व ज्यों-के-त्यों हैं। कवि का यह दावा है कि ऐसी पद्यहीन

रचना में भी लयात्मक सम्बन्ध रहता है और रखा जा सकता है।
प्रायः दश-बारह वर्ष हुए, काशी में कवि के मुख से गाया जाकर
मुझे इसे सुनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था।

मुक्त छन्द की लयात्मक प्रवृत्ति

उस समय की धारणा अब ताजी नहीं है,
परन्तु कवि की प्रतिभा में कोई संशय नहीं।
तीन-चार पंक्तियों के खण्ड में भी विचारपूर्वक यदि स्वर-मैत्री
रखी जाय, तो लयात्मक प्रवृत्ति की बहुत-कुछ रक्षा सम्भव हो
सकती है, अन्यथा अभी जो कुछ है, वह कवि को परितोष भले
ही दे, लेकिन समरूपता के अभाव में काव्य-जगत् में इसका
व्यवस्थित प्रसार सन्दिग्ध ही बना रहेगा। ध्यान से विचार करने
पर उपर्युक्त रचना में भी कहीं-कहीं छन्दबद्धता का सौन्दर्य देखा
जा सकता है। जहाँ कवि के हृदय में भावना निगूढ़ हो गई है,
वहाँ स्वाभाविक रूप से मित्राक्षर आ गए हैं और एक लय उत्पन्न
हो गई है। कहीं अनावश्यक स्वरपात देकर, रुक-रुक कर पढ़ना
पड़ता है और कहीं एक ही साँस में पंक्ति पूरी हो जाती है। यदि
पद-व्यवस्था के समय हिन्दी-उच्चारण की वैज्ञानिक विशेषता को
ध्यान में रखकर स्वर का गति-भंग न होने दिया जाय, तो मुक्त
छन्द की लोक-प्रियता बढ़ सकती है।

सुमित्रानन्दन पंत भी मुक्त छन्द के उन्नायकों में गिने जाते हैं।
राग या स्वर की गति को पहचानने का विवेक निराला से पंत में

पन्त का विचार

ज्यादा है। उनके अनुसार 'अन्य छन्दों की तरह
मुक्त छन्द भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक-संगीत
की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के
राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जि

करते हैं। 'साधः प्रीतिकरो रागः'—राग से सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। यही उसकी विशेषता है।

छन्द-विधान में सम्वेदनावाद

योरोप साहित्यिक वाद-प्रवादों का अखाड़ा है। काव्य के जितने भी मनोवैज्ञानिक पहलू हो सकते हैं, सब को अलग-अलग खींचकर प्रवादी बना दिया गया है। इसी प्रकार फ्रांस के एक साहित्यिक उत्थान का सम्वेदनावाद (Impressionism) है। फ्लिंट (F.S. Flint) के मूर्त्तविधानवाद (Imaginism) के साथ ग्रन्थि-बन्धनकर कमिंग्ज (E. E. Cummings) ने काव्य को एक नई विलक्षण भूमिका दी है। सम्वेदनावाद का प्रयत्न काव्य को लय के अधिकतर निकट लाना है, पर शब्द की नाद-शक्ति का अवलम्बन कर उससे बलात् अर्थ-व्यक्ति का काम लिया गया है। नादानुकृत शब्दों में जो ध्वनि है, उससे हृदय में तदनुकूल सम्वेदना उत्पन्न

उसकी विशेषता

होती है, यही उनकी काव्य-प्रणाली का मूल माना जाता है। इस प्रणाली के अनुसार छन्द के चरण-विन्यास का कोई निश्चित क्रम नहीं रहता। एक अक्षर का भी एक पूरा चरण माना जाता है। अक्षर-विन्यास, पद-भंग, पद-लोप आदि इसकी विशेषताएँ हैं। पाठकों के लिए सब से कठिन प्रश्न दूरारूढ़ अर्थ-यात्रा है, अर्थाक्षेप है। भाववाचक संज्ञा तथा, यदि, किन्तु, परन्तु, और, फिर आदि अनेक अर्थ-व्यञ्जक उपसर्ग, अव्यय आदि का कोई महत्त्व नहीं रखा गया। समापिका क्रिया तथा कृदन्त का मूल्य कुछ है। हिन्दी के पुराने अमृत-ध्वनि-छन्द के साथ इसकी समानता केवल शब्द-विन्यास के रूप में, और वह भी बहुत थोड़ी, मानी जा सकती है।

विशेषण-विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश-काल में कृदन्त विशेषणों से ऊपर जा चुका था, किन्तु प्राकृत की काव्य-प्रणाली में कृदन्त विशेषण को एक निश्चित स्थान प्राप्त था। सम्वेदना की प्रकांड विशेषता तो उसका चरम-विन्यास है। आधुनिक हिन्दी-कविता में भी अब इस विशेषता को बड़े सम्मान के साथ स्थान मिलने लगा है। कीर्त्ति-शेष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सम्वेदनावाद की एक अंग्रेजी कविता[१] का जो हिन्दी-रूपान्तर किया है, वह उदाहरण के लिए दिया जाता है[२]। किसी भाषा की लाक्षणिकता तथा विलक्षणता दूसरी भाषा में ठीक-ठीक

---

१. Sunset.

Stinging
Gold swarms
Upon the spiros
Silver
Chants the litanies the
great bells are ringing with rose
the lewd fat bells
and a lull

wind
is dragging
the
sea
with
dream
—s.

२. चौवीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर (संवत् १९९२) की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से दिया गया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिभाषण—पृष्ठ ९८-१०२।

उतारी नहीं जा सकती। अधिक-से-अधिक एक भाषा का जो प्रभाव दूसरी पर पड़ सकता है, उसके अनुसार ही काम लिया जा सकता है। आवश्यक परिवर्त्तन के साथ इसका भारतीयकरण कर दिया गया है।

सूर्यास्त

सं—दंश
स्वर्ण 'गुन' जाल
शिखर पर
रजत
पाठ करता है
बड़े-बड़े घण्टे बजते हैं गेरु से
मोटे निठल्ले नगाड़े
और एक उत्तुंग

पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

सम्वेदनावाद की अर्थ-यात्रा

समुद्र के किनारे सूर्यास्त का यह वर्णन है। समुद्र की खारी हवा काटती-सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीली मधुमक्खियों के फैले हुए झुण्ड-सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देव-मन्दिर के मण्डप-सी जान पड़ती है, जिस के भीतर पाठ होता है, बड़े-बड़े घण्टे बजते हैं, गेरू-से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे

रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती-सी जान पड़ती है, जैसे मछुवा। सूर्यास्त हो जाता है। फिर अन्धकार होता है। लोग सो जाते हैं, स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार द्राविड़ी प्राणायाम-जैसी अर्थ-यात्रा सम्वेदनावाद में कैसे की जाती है, इसका विवरण यह है कि 'सं' से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंढक और मधुमक्खी के डङ्क मारने की सम्वेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरणों और मधुमक्खियों के पीले रङ्ग का आभास दिया गया है। 'गुन्' से गुनगुनाहट और गुञ्जार का संकेत किया गया है जो 'दंश' के साथ मिलकर मधुमक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुण्ड का द्योतक है। 'पाठ' 'घण्टे' और 'नगाड़े' को मिलाकर मन्दिरों में होनेवाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन और छींटों की कल-कल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घण्टे' की मूर्त्त भावना में लहरों के नीचे-ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में सन्ध्या की ललाई झलकाई गई है। 'नगाड़े' में निकली हुई 'तोंद' का भी संकेत है। रचना के प्रथम खण्ड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गये हैं, किन्तु 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दमक की भावना रखकर सूर्य का, और 'रजत' शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जल-राशि या समुद्र का संकेत कर दिया गया है। इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गई है। यह अनुप्रास पहले खण्ड में 'स' अक्षर से आरम्भ होनेवाले सूर्य और समुद्र शब्दों की ओर भी संकेत करता है।

सम्वेदनावाद का यह स्वरूप संकेतवाद या तथाकथित मूर्त्त विधानवाद के ऊपर टिका हुआ है। सम्वेदना में प्रतीति होती

है, उसका कोई चिह्न इसमें नहीं, प्रत्युत् सादृश्य या उसके सूक्ष्म सूत्र को पकड़कर कल्पना कितनी दूर भिड़ाई जा सकती है, यह स्पष्ट है। हिन्दी-कविता पर इसके मर्म का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है, किन्तु पद-भङ्गी चरण-विन्यास ने वस्तुतः अपना चरण-प्रसार कर दिया है।

सम्वेदनावाद का प्रभाव

वाल्ट ह्विटमैन ने परम्परागत काव्य-पद्धति में क्रान्ति का जो सन्देश दिया, वह प्रोफेसर मैरिनिटी (Prof. Marinetti) के भविष्यद्वाद की अपेक्षा बहुत कुछ सौम्य तथा सरल कहा जा सकता है। इटली के प्रोफेसर ने काव्य-पद्धति का जो नया सम्प्रदाय भविष्यद्वाद के नाम पर चलाया, उसमें छन्द का सम्पूर्णतः मूलोच्छेद ही कर दिया गया है। कोई रूप नहीं, कोई विधान नहीं। इस काव्य-सम्प्रदाय के सञ्चालन के लिए उसके उद्देश्यों का एक लम्बा घोषणा-पत्र भी, नियमावली के साथ, प्रकाशित कराया गया है[1]। मैरिनिटी का यह प्रयत्न रोमन (Italian) काव्य-प्रणाली की उस रूढ़ि-प्रियता के प्रतिक्रिया-स्वरूप है जो एक बार यूरोपीय साहित्य में रोमांस (स्वच्छन्दता या वैचित्र्यवाद) के नाम पर उच्छ्वसित हो चुका है। यह प्रयत्न यान्त्रिक सभ्यता से प्रेरित हुआ कहा जाता है। भविष्यद्वाद का आधार, मैरिनिटी के अनुसार, हमारी उस इन्द्रिय-गम्यता पर है, जो वैज्ञानिक सभ्यता से उत्पन्न है। जो

भविष्यद्वाद

---

१. Futurist conciousness and manifesto (vers-libristes) Epitomised from the translation by Mr, Harold Munro. in Peotry and Drama.

टेलिग्राफ, टेलिफोन, ग्रामोफोन, रेल, मोटर, हवाईजहाज,
सिनेमा तथा बड़े-बड़े दैनिक पत्रों का व्यवहार करते हैं, वे नहीं

मनोव्यापार का आधार और कारण

जानते कि इनके मनोविज्ञान पर ये कितना प्रभाव रखते हैं। साधारण आदमी भी इन यन्त्रों की सहायता से क्या-से-क्या कर सकता है। इनसे हमारे चित्त में ये विकार उठते हैं—जीवन में
शीघ्रता, प्राचीन तथा ज्ञात के प्रति भय और नवीन तथा अज्ञात
के प्रति प्रेम, शान्त जीवन से घृणा, परोक्ष के भाव का विनाश
तथा वैयक्तिकता की वृद्धि, मनुष्य की इच्छाओं तथा महत्वा-
काँक्षाओं की अक्षम्यता, अनुभव तथा अप्रामाण्य का नया ज्ञान,
स्त्री और पुरुष का समानाधिकार, प्रेम का दुर्भाव, व्यवसाय में
वासना, कला तथा आदर्श का गौण, आर्थिक चेतना, कूप-मंडूकता
तथा दूरता का ह्रास, विश्व-भाव की वृद्धि, वक्र तथा चक्र के प्रति
घृणा, सरल तथा अन्तरेखा से प्रेम-विचरण की मन्द गति, प्रपञ्चित
विश्लेपण तथा व्याख्या से भय, गति, संक्षेप, सार तथा आध्या-
त्मिक क्रिया में गम्भीर अन्तर्दृष्टि का अनुराग। प्रोफेसर
मैरिनिटी ने उदाहरण-स्वरूप बताया है, यदि आपका कोई घनिष्ट
मित्र, जिसके पास वाणी की शक्ति है, किसी क्रान्ति, युद्ध, नौका-
दुर्घटना, या भूकम्प में पड़कर जीवन-मरण की घड़ियाँ बिता चुका
हो और दौड़ता हुआ आपके पास आवे, तो वह अपने अनुभवों
को व्यक्त करने तथा प्रभावशाली बनाने के लिए तत्काल वाक्य-
विन्यास पर ध्यान नहीं देगा, न विशेषण तथा विरामों पर ही
ध्यानदेगा। वह शैली की किसी रीति को भी नहीं मानेगा, ज्यों-त्यों
कर्महीन तथा सम्मिलित सम्वेदनाओं से अपने मस्तिष्क को हिला

देना चाहेगा, अपनी भावना के अनियमित तथा अनियंत्रित आवेग के कारण वह कुछ इने-गिने महत्त्वपूर्ण शब्दों का ही उपयोग करेगा। उसका प्रधान लक्ष्य यही रहेगा कि वह अपने सारे संघातों और विकारों को आप पर उतार दे।

मैरिनिटी का विचार है कि तथ्य की प्रधानता के लिए चुने हुए मुख्य-मुख्य शब्दों का व्यवहार, जिसमें अधिकांश नादानुकृत ही हों, कल्पना की एकसूत्रता रखे बिना किया जाय। शब्द नये-नये गढ़े जायँ। स्वर-व्यंजन की कतर-ब्योंत आवश्यकतानुसार की जाय। गाणितिक चिह्नों का उपयोग भी, विषय की स्पष्टता के लिए, यथासम्भव किया जाय। इस प्रकार

भविष्यद्वाद की प्रकृति और उसका एक उदाहरण

मैरिनिटी का काव्य पागल के प्रलाप से बढ़कर कुछ न होगा, किन्तु उनकी समझ से आधुनिक काल के उपयुक्त ऐसा ही काव्य हो सकता है। वर्त्तमान स्थिति में भविष्यद्वाद की काव्य-पद्धति चलाने का तात्पर्य वह इतना ही समझते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी के एक यशस्वी कवि की रचना[1], यदि वे भविष्यद्वादी होते, तो ऐसी होती—

---

१. अन्तर्दाह से—

अयि अमर शान्ति की जननि जलन ?
अक्षय तेरा शृङ्गार रहे
जीवनधन-स्मृति-सा अमिट,
निरन्तर तेरा-मेरा प्यार रहे।
धधकें लपटें अन्तरतर में,
तेरे चरणों पर शीश झुके,

अमरता+शान्ति जननी जलन, शृङ्गार
अक्षय जीवनधन+स्मृति=अमिटता
प्यार मैं तुम निरन्तर धधक लपट
अन्तर=चरण+शीश झुकना, अङ्गार+
तूफान उठना, उर प्रलय सृष्टि स्रोत
रुकना, जल+जल=अनस्तित्व, आना
चरण लिपटना=पाना विभूति।

मुझसे जहाँ तक सम्भव हो सका है और जहाँ तक भविष्य-द्वादी घोषणा-पत्र के उद्देश्यों को समझ पाया, मैंने तथाकथित पद-व्यवस्था का एक निर्व्याज प्रयत्न किया है।

दूसरा उदाहरण इटैलियन भाषा की सांस्कृतिक अनभिज्ञता मेरी कठिनाइयाँ बढ़ाती हैं सही, परन्तु यह अनुकरण एक शुद्ध प्रयत्न के रूप में ही है। मूल कविता से पूर्व परिचित रहने के कारण, सम्भव है, पाठकों को इसमें कुछ कल्पनात्मक सूत्र भी लक्षित हो। यदि किसी मौलिक वर्णन का पद-निर्देश भविष्यद्वादी पद्धति से किया जाय, तो पाठकों को उसमें ग्राहक कल्पना का आक्षेप यत्नतः करना पड़ेगा। किसी भूकम्प-पीड़ित नगर का वर्णन भविष्यद्वादी कविता में कुछ ऐसा हो सकता है।

तूफान उठें अङ्गारों के
उर-प्रलय-सृष्टि का स्रोत रुके।

हाँ, खूब जला दे, रह न जाय
अस्तित्व; और जब 'वे' आवें-
चरणों पर दौड़ लिपट जानेवाली
मेरी विभूति (ही) पावें।

—'द्विज'

भूकम्प, गड़गड़ाहट, हड़हड़ाहट=ध्वंस, प्रलय,
चीत्कार, महानाश, महाक्रान्ति, महाभीषणता,
स्त्री-पुरुष+बाल-वृद्ध, कम्पन, तूफ़ान, ओला,
आग, पानी, महल, अट्टालिका=ईंट, पत्थर,
खँडहर, सम्पत्ति विलास हास्य=रुदन सर्वनाश।

ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे मैं पाठकों के धैर्य के साथ खिलवाड़ कर रहा हूँ। किन्तु, विवशता यही है कि हिंदी-साहित्य में भी भविष्यद्वादी काव्य-प्रणाली का प्रवेश होने लगा है।

समीक्षा

गद्य में इस प्रणाली का अनुगमन यत्र-तत्र होता रहता है और वह प्रसंगानुसार बहुत-कुछ अर्थ-बोधक भी रहता है, किन्तु पद्य के नाम पर यह चेष्टा बड़ी शोचनीय है। ऐसी काव्य-प्रणाली, जो समस्त मानव-जीवन को आवेग और उद्वेग में ही केन्द्रित कर चलनेवाली हो, कितनी निस्सार है, यह कहना ही व्यर्थ है। भविष्यद्वादी कवि अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का जो उपाय सरल समझे हुए हैं, वह वक्र ही नहीं, प्रत्युत् चक्र है। कवि की विधायक कल्पना का एकांत अभाव हो जाने के कारण जो इसकी अभिव्यक्ति के लक्ष्य को रूप देती है, गति देती है, पाठक या श्रोता की ग्राहक कल्पना विमूढ़ हो जाती है। उसे कोई मार्ग स्पष्ट नहीं मालूम होता, जिस पर उसकी कल्पना अग्रसर हो सके। इसके विपरीत, उसकी कल्पना निश्चित संकेत न पाकर, 'यह हो सकता है, वह हो सकता है' के चक्र में पड़कर रुद्ध-गति हो जाती है। सरस्वती की मूर्त्ति के उद्देश्य से, पत्थर के टुकड़े के बदले संगमरमर या सोने के ही टुकड़े को सामने रखकर, वर्णन के सार रूप में, मैरिनिटी साहब

चिल्लाकर 'वीणा', 'पुस्तक' और 'हंस' कहते रहें, किन्तु ऐसे पाठकों के चित्त पर, जिन्हें भारतीय संस्कृति से कुछ सम्बन्ध नहीं, कोई बिम्ब नहीं स्पष्ट हो सकेगा। उनकी ग्राहक कल्पना भटकी ही रहेगी। कवि का कौशल केवल द्रव्य या तथ्य के उपस्थित कर देने भर ही नहीं, प्रत्युत् उसको एक रूप, एक आकार देकर जीवन की गतियों से अनुप्राणित करना भी है। भविष्यद्वादी कवि इस दृष्टि से बहुत पंगु हैं। वे काव्य-रचना के बहाने एक तमाशा खड़ा करने का ही हौसला रखते हैं।

अंत्यानुप्रास

उपर्युक्त प्रकार के छन्दों या काव्य-रूपों के जो विवेचन किए गए हैं, उनमें से वर्णिक तथा मात्रिक छन्दों में अंत्यानुप्रास का विवेचन भी आवश्यक समझ पड़ता है। लय पर शासन करने के लिए ही साधारणतः उसका व्यवहार किया जाता है। पद्य के चरणों के अंत्याक्षरों को तुकांत कहते हैं और इसी का नाम अंत्यानुप्रास भी है। इसके छः भेद हैं—सर्वांत्य, समांत्य विषमांत्य, समांत्य, विषमांत्य, सम विषमांत्य तथा भिन्न तुकांत। स्वर-मैत्री के विचार से चरणों के अन्तिम वर्णों की समरूपता रखी जाती है। तुकांत का प्रभाव भी कुछ ऐसा होता है कि वह चरण के मध्य की स्वर-भिन्नता को दबाकर अन्त में स्वर को एक ताल पर बैठा देता है। हृदय की लयात्मक प्रवृत्ति से अंत्यानुप्रास या तुकांत का इतना सामंजस्य है कि

उसकी प्रकृति और महत्त्व

पदोच्चारण के पहले ही विविक्षित पदांत की कल्पना से सम पर मस्तक झुक जाता है, ऐसा नहीं कि पाठक या श्रोता थके मजदूर की तरह घर पहुँचकर सर का बोझा धम्म-से पटक देते हैं! वर्णवृत्त छन्द

में प्रत्येक चरण की क्रमागत समरूपता के कारण भिन्न तुकांत कर्णकटु नहीं मालूम पड़ता, किन्तु मात्रिक या अक्षर छन्द में तुकांत से पद्य की शोभा, लय और ताल से संयुक्त होकर, बढ़ जाती है। हिन्दी के लिए मात्रिक तथा संस्कृत के लिए वर्णिक छंद भाषा की प्रकृति के अनुकूल होते हैं। छंद में तुकांत का जो महत्त्व है, वह एक सहृदय कवि के शब्दों में ही अच्छी तरह प्रतिपादित किया जा सकता है। 'तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अंत्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहतीं हैं, जहाँ से नवीन वल तथा शुद्ध रक्त ग्रहणकर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति-सञ्चार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में सम का है, वही स्थान छन्द में तुक का। वहाँ पर राग शब्दों की सरल-तरल ऋजु-कुंचित 'परनों' में घूम-फिरकर विराम ग्रहण करता, उसका शिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में रागवादी, स्वर पर, वार-वार ठहरकर, अपना रूप विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय-युक्त हो जाता है'[1]।

वर्णिक और मात्रिक छन्द तथा अन्त्यानुप्रास

पद्य में तो तुकान्त का प्राचुर्य है ही, गद्य में भी इसका प्रवेश प्रायः करा दिया जाता है। जो भाषा की तड़क-भड़क और चमक-दमक में अनुराग रखते हैं, वे वृत्त-गन्धि गद्य खूव लिखते हैं, किन्तु है यह पद्य-जगत् की योजना और उसी में इसका व्यवहार समुचित है। भिन्न तुकान्त का व्यवहार भी पद्य में देखा-देखी खूब

1. सुमित्रानन्दन पन्त-"पल्लव" की भूमिका पृष्ठ ४०।

होने लगा है और वह भी सफलतापूर्वक। संस्कृत वृत्तों में लय
की समरूपता कुछ ऐसी बँधी चलती है कि अन्तिम पद समरूप
हो या न हो, चित्त को वर्ण-भिन्नता खटकने नहीं देती, पर मात्रिक
छन्द में इस कौशल की थोड़ी-सी कमी रही, तो भिन्न तुकान्त अप्रिय
मालूम होने लगता है। हिन्दी-काव्य भी जब तुक और वन्धन के
भीतर व्याकुल-सा होने लगा, तब उससे मुक्ति का उपक्रम किया जाने
लगा। वस्तुतः यह व्याकुलता, जितनी उसके स्रष्टाओं में लक्षित हुई,
उतनी उसके पाठक या श्रोता में नहीं। इस व्याकुलता की विराट
व्यंजना हरिऔध के महा प्रबन्ध 'प्रिय-प्रवास' में हुई, और दूसरे
ढङ्ग से बहुत काल के बाद, कुछ दूसरे कवियों ने भी इसका परि-
चय अनोखे ढङ्ग से दिया। पाठकों के परम्परागत संस्कार पर, जो
अन्त्यानुप्रास तथा नियमित छन्द पर टिका आ रहा था, जोर का
झटका लगा। जिस वीणा पर हिन्दी-भारती गूंजती चली आ
रही थी, उसको हटाकर दूसरे स्वर पर हृदय को बैठाना सहज
काम न था। इसके लिए कुछ विशेष संस्कार अपेक्षित है। पर
वह हुआ ; और इसलिये हुआ कि अंत्यानुप्रास ने चाहे भारती का
दामन छोड़ दिया हो, पर लय के बिना उसकी गति ही सम्भव
न थी।

शुरू-शुरू में जब हिन्दी में विविध विषयों का समावेश नहीं
हो सका था, उसके दृष्टिकोण का विस्तार व्यापक नहीं हुआ था,
तब छन्द भी प्रायः वे ही काम में लाये जाते थे,
उपसंहार
जिनका प्रयोग पहले से ही हो रहा था। नवीन
दृष्टिकोण ने नये छन्द तथा भाषा के सुष्ठु रूप, काम में लाना शुरू
किया। प्राचीन छन्दों में खड़ीबोली को समाविष्ट होने में

अधिक कठिनता तो नहीं मालूम पड़ी, किन्तु कवियों को ही अपने उल्लास की अभिव्यक्ति में नवीनता का अभाव खलने लगा। संस्कृत के बहुत पुराने वृत्त, जो हिन्दी में प्रचलित नहीं थे, जनता का विनोद करने लगे। सिद्धहस्त कवियों ने मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त हिन्दी में संस्कृत वर्णवृत्त का भी व्यवहार किया। उर्दू के छन्दों का व्यवहार भी इधर-उधर होने लगा। मैथिलीशरण-गुप्त ने अपनी 'भारत-भारती' के उपसंहार में—सोहनी के रूप में जो गजल लिखी है, वह विशुद्ध हिन्दी-भाषा में है और अपनी स्थिति में अनुपम है। 'हरिऔध' तथा 'दीन' ने उर्दू बहरों में बहुत ज्यादा रचनाएँ कीं और उनके प्रयोग-प्रताप से वे हिन्दी-पिंगल में बैठने की जगह भी पा गए, परन्तु अपने संस्कारों से पूरी मुक्ति उन्हें नहीं मिल सकी। कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ के नियम का व्यतिक्रम बना ही रहा। नई पीढ़ी के कवियों ने जो रचनाएँ की हैं, उनमें छन्द के नियमों का यथातथ्य पालन कहीं नहीं हो सका है। एक ही शीर्षक में छन्दों के भेद बदल गए हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा भी है कि एक ही पद्य में भिन्न-भिन्न छन्दों के प्रयोग हो गए हैं। इसका कारण यही है कि कवि की प्रतीति को जिस ओर अनुकूल मार्ग मिला है, उसी ओर वह चल पड़ी है। जो भाव जैसे हों, उनके लिये छन्द भी वैसे ही उपयुक्त चुनने का विधान तो है, परन्तु विधान का पालन जहाँ कहीं कवि की स्वच्छन्दता में बाधक हुआ है, वहाँ कवि ने असमर्थतावश दूसरा ही मार्ग पकड़ा है। वस्तुतः छन्द-शास्त्र काव्य-रचना की सुगमता के लिए है, उस पर कोई प्रतिबन्ध डालने के लिए नहीं। महाकाव्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के छन्दों के व्यवहार की जो

परिपाटी है वह कवि के पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं, प्रत्युत् जीवन-व्यापी भिन्न-भिन्न भाव-विचार की अभिव्यक्ति को अनुकूल मार्ग देने के लिए ही। लय और छन्द के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है और कवि को अनुरूप कीर्ति प्राप्त होती है।

आठवाँ अध्याय

ग्राम-गीत का मर्म

ग्राम-गीत का उद्भव और उसकी प्रकृति

किसी देश के काव्य का उद्भव साधारणतः वहाँ की दन्त-कथाओं या ग्राम-गीतों से होता है। उनके उत्तरोत्तर कलात्मक विकास में मानव-जीवन के महत्त्व की संहृति तथा उसकी विविधता का आलोचन रहता है। सामाजिक जीवन और काव्य, दोनों, को मिला-कर देखने से यह पता चलता है कि समाज की धारणाओं के मध्य में जीवन का प्रवाह किस दिशा में, कितनी दूर तक, जा सका है, परिस्थिति की परवशता के कारण जीवन किस सीमा तक पंगु बना है और कहाँ तक उसने परिस्थिति तथा समाज की रूढ़ियों पर विजय पाई है। ग्राम-गीतों में मानव-जीवन के उन प्राथमिक चित्रों के दर्शन होते हैं, जिनमें मनुष्य साधारणतः अपनी लालसा, वासना, प्रेम, घृणा, उल्लास, विषाद को समाज की मान्य धारणाओं से ऊपर नहीं उठा सका है और अपनी हृद्गत भावनाओं को प्रकट करने में कृत्रिम शिष्टाचार का प्रतिबन्ध भी नहीं माना है। उनमें सर्वत्र रूढ़िगत जीवन ही नहीं है, प्रत्युत कहीं-कहीं प्रेम, वीरता, क्रोध, कर्त्तव्य का भी बहुत

के समय गाये जाने लायक गीत पुरुषों ने भी बनाए। किन्तु सब मिलाकर ग्राम-गीतों की प्रकृति स्त्रैण ही रही, पुरुषत्व का आक्रमण उन पर नहीं किया जा सका। स्त्रियों ने जहाँ कोमल भावों की ही अभिव्यक्ति की, वहाँ पुरुषों ने अवश्य ही अपने संस्कारवश प्रेम को प्राप्त करने के लिए युद्ध-घोषणा की। इस प्रकार मनुष्य की दो सनातन प्रवृत्तियों—प्रेम और युद्ध—का वर्णन भी ग्राम-गीतों में मिलता है। तत्त्वतः ग्राम-गीत हृदय की वाणी हैं, मस्तिष्क की ध्वनि नहीं। इनकी उद्भावना व्यक्तिगत जीवन के उल्लास-विषाद को लेकर भले ही हुई हो, किन्तु मानव-जातीयता में उनकी सारी वैयक्तिक विशेषता अन्तर्हित हो गई है। उनकी अपूर्वता इसी बात में है कि वे व्यक्ति को साथ लेकर भी उसको, प्रधान न रख, उपलक्ष्य बनाकर भावों की स्वाभाविक मार्मिकता के साथ अग्रसर हुए हैं।

ग्रामगीत से कलागीत की उद्भावना

कला-गीत के अन्तर्गत मुक्तक और प्रबन्ध काव्य, दोनों, का समावेश है। इनके इतिहास का अनुसंधान करने पर ग्राम-गीतों पर ही आकर ठहरना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्राम-गीतों से ही काल्पनिक तथा वैचित्र्य-पूर्ण कविताओं का विकास हुआ है। यही ग्राम-गीत क्रमशः सभ्य जीवन के अनुक्रम से कला-गीत के रूप में विकसित हो गया है, जिसका संस्कार अब तक वर्त्तमान है। ग्राम-गीत भी प्रथमतः व्यक्तिगत उच्छ्वास और वेदना को लेकर उद्गीत किया गया; किन्तु इन भावनाओं ने समष्टि का इतना प्रति-निधित्व किया कि उनकी सारी वैयक्तिक सत्ता समष्टि में ही तिरो-हित हो गई और इस प्रकार उसे लोक-गीत की संज्ञा प्राप्त हुई। ग्राम-

राजा-रानी, राजकुमार या राजकुमारी या ऐसे ही समाज के किसी विशिष्ट वर्ग के नायक को लेकर काव्य-रचना की जो प्रणाली बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी और जिसका संस्कृत-साहित्य में विशेष महत्त्व था, उसका प्रधान कारण यह था कि वैसे विशिष्ट व्यक्तियों के लिए साधारण जनता के हृदय पर उनके महत्त्व की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। उनमें धीरोदात्तता, दक्षता, तेजस्विता, रक्तलोकता, रूढ़वंशता, वाग्मिता आदि गुण स्वाभाविक माने जाते थे। मानव होते हुए भी उनकी महत्ता, विशिष्टता, प्रतिष्ठा आदि का प्रभावोत्पादक संस्कार जनता के चित्त पर पड़ा था। ऐसे चरित्रको लेकर काव्य-रचना करने में रसोत्कर्ष का काम, बहुत-कुछ सामाजिक धारणा के बल पर ही, चल जाता था, किन्तु साधारण जीवन के चित्रण में कवि की प्रतिभा का बहुत-सा अंश, अपने चरित्र-नायक में विशिष्टता प्राप्त कराने की चेष्टा में ही, खर्च हो जाता है। ग्रामगीत की अब यह प्रवृत्ति काव्यगीत में भी चलने लगी है। एक दुःखी भिखारिणी भी हृदय की उच्चता में रानी को मात कर सकती है, इसकी कल्पना तक उस समय हमें न थी। उच्च वर्ग के लोगों के प्रति समाज में विशिष्टता की धारणा ज्यों-ज्यों कम होने लगी, त्यों-त्यों निम्न वर्ग के प्रति हमारे हृदय में आदर का भाव जमने लगा और इस प्रकार काव्य में भी ऐसे पात्रों को सम्मानीय स्थान प्राप्त होने लगा। हृदय की उच्चता—विशालता किसी में हो, चाहे वह राजा हो या भिखारी, उसका वर्णन करना ही कवि-कर्म है। ग्रामगीत में दशरथ, राम, कौशल्या, सीता, लक्ष्मण, कृष्ण, यशोदा के नाम बहुत आए हैं और उनसे जन-समाज के बीच

ग्रामगीत में पात्र-विवेक

कर अपने सौरभ से पूर्व को भी आकर्पित करने लगा।

प्रेम-दशा जितनी व्यापकत्व-विधायिनी होती है, जीवन में उतनी और कोई स्थिति नहीं। प्रेम या विरह में समस्त प्रकृति के साथ जीवन की जो समरूपता देखी जाती है, वह क्रोध, शोक, उत्साह, विस्मय, जुगुप्सा आदि में नहीं। विरहाकुल पुरुप पशु, पक्षी, लता, द्रुम सबसे अपनी वियुक्तप्रिया का पता पूछ सकता है, किन्तु, क्रुद्ध मनुष्य अपने शत्रु का पता प्रकृति से नहीं पूछता पाया जाता। यही कारण है कि प्रेमिका या प्रेमी प्रकृति के साथ अपने जीवन का जैसा साहचर्य मानते हैं, वैसा और कोई नहीं। मनोविज्ञान का यह तथ्य काव्य में एक प्रणाली के रूप में समाविष्ट कर लिया गया है। प्रिय के अस्तित्व की सृष्टि-व्यापिनी भावना से जीवन और जगत की कोई वस्तु अलग नहीं रह सकती। जीवन का यह उत्कर्ष तथा विकास प्रेम-दशा के अतिरिक्त अन्यत्र सुलभ भी नहीं। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी जीवन के अनादि सहचर हैं। प्रकृति का यह साहचर्य अब सभ्य जीवन से बहुत दूर हट गया है, लेकिन गमले के पौधों और पिंजड़े के पक्षियों का साथ शायद नहीं छूट सकेगा। अपने सुख-दुःख के भावों को उनपर आरोपित कर, हम उन्हें स्पन्दित करते ही रहते हैं। काव्य में भी जीवन की ऐसी व्यापकता के अभाव में मानों हम विह्वल-से बने रह जाते हैं। प्राण-भक्षक को भी रक्षक समझने की शक्ति प्रेम में ही है। ग्राम-गीतों में ऐसे वर्णन बहुत हैं, जहाँ नायिका अपने प्रेमी की खोजमें बाघ, भालू, साँप आदि से उसका पता पूछती

ग्राम-गीत में प्रेम-दशा

प्रेम-दशा के अन्तर्गत दूत-काव्य का विकास

चलती है। आदिकवि वाल्मीकि ने विरह-विह्वल राम के मुख से सीता की खोज के लिये, न जाने कितने प्रकृति के पशु-पक्षी, लता-द्रुम आदि से पता पुछवाया है। इसके अतिरिक्त सीता के अनुसंधान तथा उनके पास राम का प्रणय-सन्देश पहुंचाने के लिए, जो हनूमान को दूत बनाकर तैयार किया, वह काव्य में इस परिपाटी का मार्ग-दर्शक ही हो गया। इसके उपरान्त मेघदूत, पवनदूत, हंसदूत, भ्रमर-दूत, आदि, न मालूम, कितने दूत प्रेम-सम्भार के लिए आ धमके। अब तो वैज्ञानिक युग में टेलीफोन, टेलीग्राफ, रेडियो आदि यन्त्र-दूत बने ही, पोस्टमैन को भी यह मर्यादा मिलनी चाहिए। कला-गीतों में पशु, पक्षी, लता-द्रुम आदि से जो प्रश्न पूछे गये हैं, उनके उत्तर में प्रायः मौन रहे हैं। विरही यक्ष का मेघदूत भी मौन ही रहा है[1], किन्तु, ग्रामगीत का दूत मौन नहीं रहा है।

तोको देवों भौंरा दूध भात खोरवाँ।
अरे हरी आगे खबर जनाऊ, त फागुन आई॥
उड़ल उड़ल भौंरा गइले उहे देसवाँ।
अरे जाई बैठे हरीजीके पाग, त फागुन आई॥
पाग ते उरले हरी जाँघे बइसवलें।
अरे पुछे लागे धन कुसलात, त फागुन आई॥
तोरी धना ए हरी बेदने बेआकुल।
अरे ओही गुने मोरा भेजई, त फागुन आई॥

[स्त्री कहती है—हे भौंरे, मैं तुमको कटोरे में दूध-भात खाने को दूँगी। तुम जाकर मेरे प्राणनाथ को खबर जना दो कि फागुन आ गया।

---

१. मेघदूत के कुछ संस्करण अब ऐसे भी छपे हैं, जिनमें मेघ ने उत्तर दिया है, पर यह क्षेपक है।

भौंरा उड़ते-उड़ते उस देश में पहुंचा, जहाँ उस स्त्री का प्रियतम था और उसकी पाग पर बैठ गया।

प्रियतम ने पाग परसे उतारकर उसे जाँघ पर बैठा लिया और उससे अपनी प्रिया का कुशल-समाचार पूछा।

भौंरे ने कहा—हे हरि, तुम्हारी प्यारी बहुत व्याकुल है। फागुन आ गया, यह कहने के लिये ही उसने तुम्हारे पास मुझे भेजा है।]

अरे अरे श्याम चिरइया झरोखवै मति बोलहु।
मोरी चिरई! अरी मोरी चिरई! सिरकी भीतर बनिजरवा,
जगाइ लइ आवउ—मनाइ लइ आवउ॥
कारिक पियरि बदरिया झिमिकि दैव बरसहु।
बदरी जाइ बरसहु उही देस जहाँ पिया कोड़ करें॥
भीजै आखर बाखर तम्बुआ कनतिया।
अरे मितराँ से हुलसै करेज समुझि घर आवैं॥

ऐसे दूतों का उपयोग केवल प्रिया-प्रेमी के प्रणय-सन्देश को भेजने के लिए ही नहीं किया गया है, बल्कि माता ने भी ऐसे दूत से अपने पुत्र के योग-क्षेम की कामना की है।

सवना भदवना क दिनवा घुमरि घन बरसइं।
रामा राम लखन दूनों भइया कतहुं होइहैं भीजत॥
रिमिकि झिमिकि दयू बरसइ मोरे नाहीं भावइ।
दैवा ओहि बन जाइ जनि बरिसहु जहाँ मोर लरिकन॥

[कौशल्या कहती है—सावन-भादों के दिन हैं। बादल घूम-घूम-कर बरस रहे हैं। हाय, राम-लक्ष्मण दोनों भाई कहीं भींजते होंगे। यह बादल रिमझिम बरस रहा है। मुझे अच्छा नहीं लगता। बादल, तुम उस वन में जाकर मत बरसना, जहाँ मेरे लड़के हैं।]

अरे अरे कारी बदरिया तुहइँ मोरि बादरि।
बादरि जाइ बरसहु वहि देस जहाँ पिय छाये॥
बाउ बहइ पुरवइया त पछुवाँ झकोरइ।
बहिनि दिहेउ केवड़िया ओठँगाइ सोवउँ सुख नीदरि॥
कि तुहूँ कुकुरा बिलरिआ सहर सब सोवइ।
कि तुहूँ ससुर पहरिआ किबरिआ झड़कावहु॥
ना हम कुकुर बिलरिआ न ससुर पहरिआ।
धन! हम अही तोहरा नयकवा बदरिया बुलायसि॥

[हे काली घटा! तुम्हीं मेरी प्यारी घटा हो। हे घटा, वहाँ जाकर बरसो, जहाँ मेरे प्रियतम हैं।

पूरवा हवा बह रही है। कभी-कभी पछवा भी झकोरता है। हे ननद! तुम किवाड़ बन्द कर देना, मैं सुखकी नींद सोऊँगी।

तुम कुत्ते हो, या बिल्ली हो, या मेरे ससुर के पहरेदार हो? सारा शहर तो सो रहा है; तुम कौन हो, जो मेरी किवाड़ खटखटा रहे हो?

न मैं कुत्ता हूँ, न बिल्ली और न तुम्हारे ससुरका पहरेदार हूँ। हे प्यारी! मैं तुम्हारा पति हूँ। मुझे घटा बुला लाई है।]

नवदम्पति के लिए सुहाग-रात का आकर्षण कैसा होता है, इसका वर्णन अनेक कलाविद् कवियों ने किया है। उस समय दम्पति के हृदय में लालसा, उत्कण्ठा, प्रणय, उत्साह, गर्व, मद, उन्माद, हर्ष का समवाय बसा रहता है। जीवन का यह मधुर उन्माद, उपरान्त जीवन में गम्भीर परिस्थितियों के साक्षात्कार से, धीरे-धीरे उतर जाता है और जीवन एक साम्य स्थिति में आ जाता है। किन्तु; जब तक अनुराग और प्रणय रहता है, तब तक

प्रेम-सम्भार में काल-दीर्घत्व की कामना

अतृप्ति बनी ही रहती है। सुहाग-रात में संयोग के इस अपूर्व अवसर के दीर्घत्व की प्रार्थना करती हुई एक नवपाणिगृहीता कहती है—

आजु सोहाग के रात चन्दा तुम उइहौ।
चन्दा तुम उइहौ सुरुज मति उइहौ ॥१॥
मोर हिरदा विरस जनि किहेउ मुरुग मति वोलेउ।
मोर छतिया विहरि जनि जाइ तु पह जिनि फाटेउ॥२॥
आजु करहु बड़ि राति चन्दा तुम उइहौ।
धिरे-धिरे चलि मोरा सुरुज विलम करि अइहौ ॥३॥

[आज सुहाग की रात है। हे चन्द्र! तुम उदित होना। पर हे सूर्य! तुम उदित मत होना ॥१॥

हे मुर्गे! तुम आज न बोलना। बोलकर मेरे हृदय को विरस मत करना। हे पौ! तुम आज न फटना। कहीं मेरी छाती न फट जाय ॥२॥

हे चाँद! तुम आज बड़ी रात करना और उदित होना। हे मेरे सूर्य! तुम आज धीरे-धीरे चलकर देर से आना ॥३॥]

इसी सम्बन्ध का एक गीत और है। बारह वर्ष के बाद परदेश से पति आया है और पत्नी के साथ सोया है।

आधि राति बीति गई बतियाँ नियाई राति चितियाँ।
बारह बरस का सनेहिया जोरत मुरगा बोलइ ॥
तोरबेउँ मैं मुर्गा क ठोर गटइया मरोरबेउँ।
मुर्गा काहे किहेउ भिनुसार त पियहि बतायउ ॥

[आधी रात बातों-ही-बातों में बीत गई। बारह वर्ष के प्रेम को एक करने में सारी रात बीत गई। इतने में मुर्गा बाँग देने लगा।

स्त्री ने कहा—हे मुर्गा! मैं तुम्हारी चोंच तोड़ डालूँगी, तुम्हारी गर्दन मरोड़ दूँगी। तुमने भोर क्यों किया और प्रियतम को क्यों बतलाया कि सबेरा हो गया?]

माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने भी अपनी 'सुहाग' नामक कविता-पुस्तक में ऐसा ही कहा है—

आज है प्रथम मिलन की रात
वायु! कर दे सुरभित संसार।
दिशाओ! गाओ मंजुल गीत
प्रकृति! सज मंजु मनोहर थार॥
निशा! धर ले सुर-मोहक वेश
तारिका! तन दो शुभ्र वितान।
अरी नीरवते! देखो जरा
मूक हो मधुमय चुम्बन-दान।
करो झकझोर तनिक ऋतुराज
सुधाकर! चन्द्रमयी कर रात।
सूर्य! मत करना आज प्रभात
आज है प्रथम मिलन की रात॥

× × × ×

बरिसहु बरिसहु देव हे आजु केर रतिया।
आरे पिया के जतरवा सेहु बिलमावहु रे की॥
जब तु मनवलू हे धनि हे मेघ हे मनवलू।
आरे छतवा वेसाहि कें हमें पथ जाएब रे की॥
देवहुं रे डोमवा रे भैया रे डाला भरी रे सोनवा।
अरे आज की रैनिया छाता जनि वीनहु रे की।
अरे पिया के जतरवा तुहु बिलमावहु रे की॥

[स्त्री कहती है—हे बादलो, आज की रात खूब बरसो। मेरे प्राणनाथ परदेश जा रहे हैं। उन्हें यात्रा से रोक दो।

पति कहता है—यदि तुम बादलों को मनाती हो, तो मैं छाता खरीद कर चला जाऊँगा।

स्त्री डोम से कहती है—हे डोम भाई, आज की रात तुम छाता मत बिनो। मैं तुम्हें डाला भरकर सोना दूंगी। मेरे प्राणनाथ की यात्रा में देर कर दो।]

यह कैसी अतृप्ति है! संयोग की अवधि अधिक से अधिक बढ़े, हृदय में यह भाव कुछ ऐसा तन्मय-सा रहता है, जो प्रकृति के नियम से निरपेक्ष हो जाता है। सुख का समय कितना जल्द उड़-सा जाता है, इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। जीवन की यह एक प्रगति है कि हम दुःख में इतने चिन्ताशील हो जाते हैं कि उसकी अवधि के प्रत्येक क्षण का हमें कटु अनुभव होता रहता है, किन्तु सुख के समय जीवन का प्रत्येक क्षण हमें इतना मधुर, सरल और लघु मालूम होता है कि उसका कुछ भी भार हमारे चित्त पर नहीं पड़ता और वह अपनी स्वाभाविक गति से अधिक तीव्र होकर चलता-सा मालूम होता है। घड़ी की सूई को ध्यान से आँखें गड़ाकर देखने से पन्द्रह मिनट का समय, जो बात-बात में अन्यथा उड़ जाता है, एक युग के समान मालूम पड़ता है। सुख के समय हमारा ध्यान सुख में ही संलग्न रहता है, किन्तु दुःख के समय हम केवल दुःख में ही लिप्त न रहकर उसकी अवधि के प्रत्येक क्षण का अनुभव किया करते हैं। इसी कारण वह इतना असह्य होता है। नायिका ने अपने सुख की अवधि को बढ़ाने के लिए जो नक्षत्रों से प्रार्थना की है, वह स्वीकृत हो या न हो, प्रार्थिनी की निष्कपटता तथा

सुख-दुख की अवधि में मानव प्रयत्न

निश्चल भाव के कारण एक ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है, जो उसे अपनी प्रार्थना की स्वीकृति का सन्तोष दिला देती है। जीवन का यह भाव प्राकृतिक नियम की अटलता के तर्क को भी आच्छन्न कर देता है। जैसे सुख में उसकी अवधि को बढ़ाने की इच्छा बनी रहती है, वैसे ही दुःख में उसकी अवधि को समाप्त करने की चेष्टा भी होती है। जायसी और सूर ने एक ही तथ्य को अपने-अपने ढंग से कहा।

(१) गहे बीन मकु रैन बिहाई।
सिस बाहन तहँ रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंह उरै है लागै।
ऐसिहि बिथा रैन सब जागै॥
—जायसी

(२) दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाही रथ हाँक्यो, नाहिन होत चन्द को ढरिबो॥
—सूर

(३) मन राखन को वेनु लियो कर मृग थाके उड़पति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि यामिनि को कल्प टरै॥
—सूर

इन तीनों उद्धरणों का प्रायः एक ही तात्पर्य है कि विरहिणी अपने मनोरञ्जन के लिए, किसी तरह विरह की रात काटने, वीणा या वेणु लेकर बजाने बैठी। उसके मधुर स्वर पर मुग्ध होकर चन्द्रमा के रथ का हरिन अड़ गया। हरिन के अड़ जाने के कारण चन्द्रमा का रथ आगे बढ़ न सका और रात बढ़ गई। इससे घबड़ाकर विरहिणी ने सिंह का चित्र बनाना शुरू किया,

जिससे भयभीत होकर हरिन भाग चले और रात कट जाय। घटना के रूप में यह बात सत्य नहीं, परन्तु काव्य-जगत् में इसकी सत्यता को कौन अस्वीकृत करेगा!

ग्रामगीत में पक्षी का वरानुसन्धान

विरहिणी के प्रेम-दौत्य के अतिरिक्त ग्रामगीतों में पक्षी से पुत्री के विवाह के लिए वर खोजने का काम भी लिया गया है और उसने वह काम पूरा किया है। एक माता सुग्गे से कहती है—

सावन सुगना मैं गुर घिउ पाल्यों चैत चना के दालि।
जब सुगना तू भयउ सजुगवा बेटीक वर हेरह आव ॥१॥
उड़त-उड़त तू जायो रे सुगना बैठउ डरिया ओनाय।
डरिया ओनाय बैठा पखना फुलायउ चितया नजरिया घुमाय ॥२॥
जे वर सुगना, तू देखेउ सुन्दर जेकरि चाल गम्भीर।
जेहि घरा सुगना तु सम्पति देख्यो वोही घर रचेउ विआह ॥३॥
हेरेउँ वर मैं सजुग सुलच्छन भहर-भहर मुंह-ज्योति।
साठि वरद मैं चन्नि में देखेउँ वोहि घर रचहु विआह ॥४॥

[हे सुआ! तुमको मैंने सावन में गुड़-घी और चैत में चने की दाल खिलाकर पाला। अब तुम समझदार हुए। जाओ, बेटी के लिए वर ढूँढ़ लाओ ॥१॥

हे सुआ! तुम उड़ते-उड़ते जाना और पेड़ की डाल झुकाकर बैठना। डाल झुकाकर बैठना, पंख फुलाना और इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर देखना ॥२॥

हे सुआ! जिस वर को तुम सुन्दर देखना, जिसकी चाल में गम्भीरता देखना और जिस घर में धन देखना, वहीं विवाह ठीक करना ॥३॥

सुआ कहता है—मैंने अच्छे लक्षणोंवाला वर ढूँढ़ लिया। उसके मुख पर ब्रह्मचर्य की आभा दमक रही है। उसके घर में साठ बैल मैंने चन्नी या चरनी (बैल जहाँ पर बाँधकर खिलाए जाते हैं) में देखे। उसी घर में विवाह करो।]

मनुष्येतर प्राणी के साथ भी आत्मीयता का सम्बन्ध ग्रामगीतों की खास विशेषता है। कन्या की माता ने सुग्गे को बड़े स्नेह के साथ, वात्सल्यभाव से, सावन-चैत में रुचिकर भोजन खिला-खिलाकर पाला है। अब उसे वह बेटी के लिए वर खोजने भेजती है। उड़ते-उड़ते जाना, वृक्ष की डाल को झुकाकर बैठना, पंख फैलाकर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाना, इस प्रकार के वर्णन से सुग्गे का कितना सुन्दर बिंबग्रहण हो जाता है। पक्षियों की स्वाभाविक चेष्टाओं से जो परिचित हैं, वे इस वर्णन के माधुर्य का रस ले सकते हैं। वर की कसौटी भी कितनी मनोवैज्ञानिक है[1]। वर की सुन्दरता पुत्री की कामना है। चाल की गम्भीरता पिता की और सम्पत्ति माता की इच्छा है। माता, पिता तथा पुत्री—तीनों के सन्तोष के लिए वर में जो-जो गुण अपेक्षित थे, वैसा ही गुणशील वर सुग्गे ने खोज निकाला। पारिवारिक जीवन का यह एक मनोरम भावना-चित्र है।

---

१. विवाह के सम्बन्ध में संस्कृत का एक मनोविज्ञानमूलक श्लोक है—

कन्या काम्यते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बांधवाः कुलमिच्छंति मिष्ठान्नमितरे जनाः॥

कन्या रूपवान पति चाहती है, माता धनी और पिता विद्वान् दामाद चाहते हैं। गोत्रीय बन्धु अच्छे कुल-शील का सम्बन्ध चाहते हैं और अन्यान्य लोग मिठाइयाँ चाहते हैं।

ऐसे ही एक प्रसंग में पिता-पुत्री का एक मार्मिक संलाप है।

कन्या-दान पितृत्व का ऋण

कन्या-दान पितृत्व का कितना बड़ा ऋण है, यह किसी भुक्तभोगी पिता को ही मालूम हुआ रहता है।

कौन गरहनवाँ बाबा साँझे जे लागै कौन गरहन भिनुसार।
कौन गरहनवाँ बाबा औघट लागै कबधौं उगरह होइ ॥१॥
चन्द्र गरहनवाँ बेटी साँझे जे लागै सुरुज गरहनवाँ भिनुसार।
धीरिया गरहनवाँ बेटी औघट लागै कबधौं उगरह होइ ॥२॥
काँपइ हाथी रे काँपइ घोड़ा काँपइ नगरा के लोग।
हाथ में कुस लिहे काँपइ बाबा कबधौं उगरह होइ ॥३॥
रहँसहँ हाथी रे रहँसहँ घोड़ा रहँसहँ सकल बरात।
मड़पे मुदित मन समधी रे बिहँसइ भले घर भयहु बिवाह ॥४॥
गंगा पैठि बाबा सुरुज से बिनवइँ मोरे घूते धिरिया जिनि होइ।
धेरिया जनम तब दीहा विधाता जब घर सम्पति होइ ॥५॥

[कन्या पूछती है—हे पिता! कौन ग्रहण रात में लगता है और कौन दिन में; और कौन ग्रहण बेवक्त लगता है? और कब छूटता है? ॥१॥

पिता कहता है—हे बेटी! चन्द्र-ग्रहण रात में लगता है और सूर्य-ग्रहण दिन में। कन्या-ग्रहण का कोई ठिकाना नहीं कि कब लगे और कब छूटे ॥२॥

हाथी काँप रहे हैं, घोड़े काँप रहे हैं, नगर के लोग काँप रहे हैं, हाथ में कुश लिए बाबा काँप रहे हैं। न जाने कब छुट्टी मिलेगी ॥३॥

हाथी प्रसन्न हैं, घोड़े प्रसन्न हैं, सारी बारात प्रसन्न है, माँड़ों के नीचे बैठा हुआ समधी प्रसन्न है कि अच्छे गृहस्थ के यहाँ मेरे पुत्र का विवाह हुआ है ॥४॥

पिता गङ्गाजी में खड़े होकर सूर्य से विनय करते हैं—हे सूर्य ! मेरे बल पर कन्या न देना। कन्या का जन्म तभी हो, जब घर में सम्पत्ति हो ॥५॥]

इस गीत में कन्या अपनी बाल-सुलभ सरलता से ग्रहण के संबंध में पिता से जिज्ञासा करती है। कन्या की जो सरलता है, वह पिता की मार्मिकता है। जबतक कन्या किसी सुयोग्य वर के हाथ सौंप नहीं दी जाती, तबतक पिता की दशा राहु-ग्रसित-सी बनी रहती है। हिन्दू-परिवार में कन्या के पिता की मुक्ति इतने से ही नहीं हो जाती। यदि घरमें सम्पत्ति न रही, तो उसके मानसिक संताप का अन्त नहीं। पिता की आर्थिक दुरवस्था का परिणाम कन्या को भी ससुराल में श्वसुर, सास, ननद और कभी कभी पति के दुर्व्यवहार के रूप में सहना पड़ता है[१]। ग्रह और उनके दो संपात, राहु तथा केतु, कुल मिलाकर नवग्रह माने जाते हैं। यह तो ज्योतिष-शास्त्रियों का कथन है, किन्तु हिन्दू-परिवार की शोचनीय स्थिति का ध्यान रखकर संस्कृत के एक कवि ने—'जामाता दशमोग्रहः'—दामाद को दसवाँ ग्रह माना है। इस सांपातिक ग्रह की निष्ठुरता से अधिकांश हिन्दू माता-पिता परिचित हैं।

---

१. वैदिक काल में कन्या को गोपालन तथा दोहन के कारण दुहिता कहते थे, लेकिन उस समय भी इसका दूसरा अर्थ लिया जाता था। यास्क ने अपने निरुक्त में दुहिता की व्युत्पत्ति—दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति—दुहिता हित करनेवाली नहीं होती, उसके दूर रखने में ही हित है—के रूप में की है। कन्या के दुर्भाग्य को बढ़ाने में हिन्दू-समाज ने अपने ऊपर कितना बड़ा उत्तरदायित्व लिया है!

ग्राम-गीतों में छोटे-छोटे करुणाजनक वर्णनात्मक उपाख्यान भी बहुत हैं। करुणा का प्रसार केवल मनुष्य तक ही परिमित नहीं, पशु-पक्षी—यहाँ तक कि लता-द्रुमों—के साथ भी दिखाया गया है। भाव-संपर्क की इतनी विशाल परिधि गीतों की रचयित्रियों की उदार भावुकता है। पशु-पक्षियों के मन में, कम-से-कम उनके अव्यक्त मन में, सुख-दुख की जो भावनाएँ उठती हैं, उनका अनुमान हम साधारणतः अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ही करते हैं। परिचय के सूक्ष्म आधार पर ही बहुधा हम अपनी भावनाओं को मनुष्येतर प्राणियों में भी कल्पित कर देते हैं। किसी चेष्टा का हेतु जब प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं रहता, तब उसकी कल्पना से ही काव्य में अनुकूल सौन्दर्य उत्पादित कर लिया जाता है। हेतु की अतथ्यता, परोक्ष होने के कारण, रस की प्रतीति में कोई बाधा नहीं डालती। एक हरिणी का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन है—

ग्राम-गीतों में करुणा का प्रसार

छापक पड़े छिउलिया त पतवन गहबर।
अरे रामा, तेहि तर ठाढ़ी हरिनियां त मन अति अनमनि ॥१॥
चरते चरत हरिन बात हरिनी से पूँछइ।
हरिनी ! की तोर चरहा झुरान कि पानी बिनु मुरझिउ ॥२॥
नाहीं मोर चरहा झुरान न पानी बिनु मुरझिउँ।
हरिना ! आज राजा जी के छट्ठी तुहैं मारि डरिहैं ॥३॥
मचिये बैठी कौसिल्या रानी हरिनो अरज करइ।
रानी ! मसवा त सिझइहिं रसोइयाँ खलरिया हमें देतिउ ॥४॥
पेड़वा से टँगतिउँ खलरिया त हेरिफेरि देखितिउँ।
रानी ! देखि देखि मन समुझाइ जनुक हरिना जीतइ ॥५॥

जाहु हरिनी घर अपने खलरिया नाहीं देबइ।
हरिनी! खलरी क खँजड़ी मढ़उबइ त राम मोर खेलिहैं॥६॥
जब जब बाजइ खँजड़िया सबद सुनि अनकइ।
हरिनी ठाढ़ि ढँकुलिया के नीचे हरिन क बिसूरइ॥७॥

[ढाक का एक छोटा-सा घने पत्तेवाला पेड़ है। उसके नीचे हरिनी खड़ी है। उसका मन बहुत बेचैन है॥१॥

चरते-चरते हरिन ने पूछा—हे हरिनी! तू उदास क्यों है? क्या तेरा चरागाह सूख गया है, या तेरा मन पानी की कमी से मुरझा गया है?॥२॥

हरिनी ने कहा—हे प्रियतम! न मेरा चरागाह ही सूखा है, और न पानी की ही कमी है। बात यह है कि आज राजा के पुत्र की छट्ठी है। आज तुम मारे जाओगे॥३॥

रानी कौशल्या मचिया पर बैठी हैं। हरिनी ने उनसे विनती की—हे रानी! हरिन का मांस तो आपकी रसोई में सीझ रहा है, उसकी खाल आप मुझे दिलवा दें॥४॥

मैं हरिन की खाल को पेड़ से टांग दूंगी और उसे घूम-फिरकर देखूँगी। हे रानी! उसे देख-देखकर मैं मन को समझाऊँगी, मानों हरिन जीता ही है॥५॥

कौशल्या ने कहा—हे हरिनी! अपने घर जाओ। खाल नहीं मिलेगी। खाल की खँजड़ी बनेगी। मेरे राम उसे बजाकर खेलेंगे॥६॥

उस खाल से बनी हुई खँजड़ी जब-जब बजती थी, तब-तब हरिनी कान उठाकर उसका शब्द सुनती थी और उसी ढाक के नीचे खड़ी होकर वह हरिन को विसूरती थी॥७॥]

इस मार्मिक गीत को मैंने पहली बार रामनरेश त्रिपाठी के मुँह से ही प्रायः तेरह-चौदह वर्ष पहले काशी में सुना था। उस

समय वे घूम-घूमकर ग्रामगीतों का संग्रह कर रहे थे। इस गीत ने सर्वत्र सहृदय-समुदाय को तो विमुग्ध किया ही, त्रिपाठीजी को भी गीतों के संग्रह-कार्य में विशेष प्रोत्साहित किया। इस गीत में जो भाव-संलग्नता है, जो मार्मिक व्यथा है, उस पर कुछ भी टिप्पणी करना मेरी भावुकता पसन्द नहीं करती। मुझे विश्वास है, मेरे पाठक त्रिपाठीजी के शब्दों से अवश्य सहमत होंगे। 'हरिनी हरिन की खाल इसलिए माँगती थी कि उसे वह देख-देखकर हृदय को ढाढ़स देगी और हरिन जीता है, इस भ्रम को सत्य समझकर एक कल्पित सुख का अनुभव करेगी। मनुष्यों में कितनी ही ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो अपने मृत पति या पुत्र की चीजें बड़ी सावधानी से रख छोड़ती हैं और एकान्त में उन्हें देख-देख कर एक अद्भुत् प्रकार का सुख अनुभव किया करती हैं। अन्त में हरिन की खाल की खँजड़ी बनी। खँजड़ी जब-जब बजती थी, तब-तब उसकी ध्वनि से हरिनी के हृदय में प्रेम का एक इतिहास जाग्रत होता था और वह उसी इतिहास में लीन हो जाती थी।'

ग्रामगीत में वियोग-मिलन

जीवन में विरह का भाव जितना व्यापक होता है, उतना अन्य कोई नहीं। संयोग में हमारी कल्पना का क्षेत्र मुख्यतः आलम्बन तक ही सीमित रहता है, किन्तु वियोग में उसकी कोई सीमा नहीं रहती। एक नव-युवती स्त्री, सावन में कजरी खेलने के लिये, नैहर जाने की अनुमति अपने प्राणनाथ से माँगती है। इस पर उसका प्रियतम कहता है—

जो तू बारीधना जाएउ नैहरवा,
ए टीका धरि जाएउ रे सेजरिया।

टिकवा के पतिया चमाके सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥१॥
जो तू बारीधना जाएउ नैहरवा,
तिलरिया धरि जाएउ रे सेजरिया।
तिलरी के जुगुनी चमाके सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥२॥
जो तुम बारीधना जाएउं नैहरवा,
बेसरिया धरि जाएउ रे सेजरिया।
बेसरि के झुलनी चमाकै सारी रतिया,
प जनु सुन्दर बाटी रे सेजरिया ॥३॥
जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
बाजुइया धरि जाएउ रे सेजरिया।
बजुआ के चुन्नी चमाकै सारी रतिया,
प जनु रानी बाटी रे सेजरिया ॥४॥
जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
पछेलवा धरि जाएउ रे सेजरिया।
पछेला केर रउआ चमाकै सारी रतिया,
प जनु रानी बाटी रे सेजरिया ॥५॥
जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
पायल धरे जाएउ रे सेजरिया।
पायल केर बच्ची बाजे सारी रतिया,
प जनु धना बाटी रे सेजरिया ॥६॥
जो तुम बारीधना जाएउ नैहरवा,
कड़ा धरे जाएउ रे सेजरिया।

कड़वा के घुंडी चमकै सारी रतिया,
प जनु धना वाटी रे सेजरिया ॥७॥

[हे मेरी किशोर अवस्थावाली प्यारी रानी ! तुम नैहर जाना तो सेज पर टीका छोड़े जाना, जिससे सारी रात उसकी पत्ती चमकती रहे और मैं समझता रहूँ कि मेरी स्त्री सेज पर ही है ॥१॥

हे मेरी प्यारी कामनी ! तुम नैहर जाना तो तिलड़ी सेज पर छोड़े जाना। तिलड़ी का जुगनू सारी रात चमकता रहेगा, तो मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री सेज पर ही है।

हे मेरी लाड़िली ! तुम नैहर जाना तो वेसर छोड़े जाना। उस पर जड़ी हुई चुन्नी सारी रात चमकेगी, तो मैं समझूँगा कि मेरी प्यारी स्त्री सेज पर ही है ॥४॥

हे मेरी हृदयेश्वरी ! तुम नैहर जाना तो हाथ का कड़ा छोड़े जाना। उसके रवे की चमक सारी रात देखकर मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री सेजपर ही है ॥५॥

हे मेरी प्यारी स्त्री ! तुम नैहर जाना तो पाजेव छोड़े जाना ! उसकी ध्वनि सुनकर मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री यहीं है ॥६॥

हे मेरी प्यारी स्त्री ! तुम नैहर जाना तो कड़ा रखे जाना। कड़े की घुण्डी की चमक देखकर मैं समझूँगा कि मेरी स्त्री यहीं पर है ॥७॥

इसमें पत्नी के प्रति पति का जो अगाध प्रेम है, वह बुद्धिवादी पति के भाग्य में कहाँ ! अपनी प्रिया की किसी प्रिय वस्तु में उसके सारे अस्तित्व की कल्पना करना स्मृति-विधायक मनोवैज्ञानिक सत्य है। बुद्धि को यहाँ चुप रहना पड़ता है। रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम का विदग्ध विलाप इसी प्रकार बुद्धि का पराभव

प्रेम में बुद्धि का पराभव

है। कवि और प्रेमी, अपनी इसी वृत्ति के कारण, पागल समझे जाते हैं। वियोग में हृदय की साम्यावस्था नहीं रहती। अपने प्रेमी या प्रिया के मिलन की चिन्ता बराबर बनी रहती है। इसी कारण बाह्य जगत में उसके समान या असमान, अनुकूल या प्रतिकूल, जो कुछ भी है, उसको देखते ही हृदय में विप्लव उपस्थित हो जाता है। यदि कल्पना में सजीवता नहीं रहती, तो भावुकता को भी अपने प्रसार के लिए क्षेत्र नहीं मिलता। जिस बात की कल्पना हम सदैव किया करते हैं, वह स्वभावगत हो जाती है और उसका प्रभाव भी मानव-शरीर पर तदनुकूल पड़ने लगता है। सतत कल्पना सत्य का आभास देने लगती है। जब कभी कोई भावना हमें प्रिय मालूम होती है तब, प्रतिकूल कारण उपस्थित रहने पर भी, उसको बलपूर्वक हृदय में छिपाये रखने की इच्छा होती है। इसी कारण मनोदशा को अनुकूल रखने के लिए तर्क की प्रवृत्ति भी तदनुकूल हो जाती है। सङ्कल्प की जैसी प्रकृति रहती है, तर्क उसी का अनुगमन करता है। पत्नी के आभूषणों को देख-देखकर पति उसकी अनुपस्थिति का निर्वाह मन को भुलाकर कर ले सकता है ; क्योंकि मनुष्य अपनी सुख-सुविधा का विचारकर कभी-कभी आत्म-प्रवञ्चना भी करता है। मन भी, यदि उसमें वैसा सङ्कल्प हो तो, बड़ी सरलता से भुलाया जा सकता है। मन अपने सन्तोष के लिए स्वयं ऐसा प्रबन्ध कर लिया करता है। जिस सीमा तक मनुष्य के सुख-दुख मानसिक हैं, उस सीमा तक मन ही प्रधान है।

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त दूसरे उन्नत साहित्य में भी ऐसी बातें पायी जाती हैं। मुझे अभी एक रूसी कहानी की

नायिका थैरेसा की याद आ रही है। उसने अपनी मानसिक शक्ति का ज्वलन्त परिचय दिया है। थैरेसा का प्रेमी संसार में नहीं है, किन्तु अपने मानसिक सन्तोष के लिए वह अपने प्रेमी के पास प्रेम-पत्र लिखाकर भेजती है और फिर उसका उत्तर भी, कुछ दिनों की प्रतीक्षा के वाद, स्वयं लिखाती है।

प्रेम-दशा की तर्कहीनता

प्रत्यक्ष जगत में ऐसी वात अद्भुत मालूम होती है, किन्तु जीवन की भावुकता-पूर्ण स्थिति में इससे भी अधिक आश्चर्यजनक काम होते देखे गये हैं। प्रेमिका तथा प्रिया, नायिका के ये दो भिन्न रूप हैं। जव नायिका सक्रिय प्रेम-तत्पर होती है, तव वह प्रेमिका वनती है और जव उसमें केवल प्रेम को ग्रहण करने की पात्रता ही होती है, तव वह प्रिया वनी रहती है। तुल्यानुराग में यह भेद वहुत-कुछ मिट जाता है। जीवन के ये क्रिया-कलाप भावों की गति-विधि की सूचना देते हैं। ग्रामगीतों में जो स्वाद है, वह आजकल के तथाकथित सभ्य पुरुषों को प्राप्त नहीं हो सकता। बुद्धि-व्यवसाय ही जिनके जीवन का ध्येय है, उनके लिये कविताएँ नहीं रची जातीं। ग्रामगीत की ही वात क्यों, कविता-मात्र के आस्वाद के लिये जिस सहृदयता, जिस रसिकता की अपेक्षा होती है, उसमें बुद्धि का पराभव रहत है। हृदय सनातन है, बुद्धि गतिशील है। बुद्धि की सत्ता क एकान्त रूप से अस्वीकृत कर देने पर हृदय को अपनी गति लिये क्षेत्र नहीं मिल सकता, किन्तु बुद्धि की प्रवलता भी र परिपाक में एक वाधा है। बुद्धिमान रहते हुए भी जो तर्क होकर ग्रामगीत या कलागीत का स्वाद लेता है, वही वस काव्य-रसिक है।

है। कवि और प्रेमी, अपनी इसी वृत्ति के कारण, पागल समझे जाते हैं। वियोग में हृदय की साम्यावस्था नहीं रहती। अपने प्रेमी या प्रिया के मिलन की चिन्ता बराबर बनी रहती है। इसी कारण वाह्य जगत में उसके समान या असमान, अनुकूल या प्रतिकूल, जो कुछ भी है, उसको देखते ही हृदय में विप्लव उपस्थित हो जाता है। यदि कल्पना में सजीवता नहीं रहती, तो भावुकता को भी अपने प्रसार के लिए क्षेत्र नहीं मिलता। जिस बात की कल्पना हम सदैव किया करते हैं, वह स्वभावगत हो जाती है और उसका प्रभाव भी मानव-शरीर पर तदनुकूल पड़ने लगता है। सतत कल्पना सत्य का आभास देने लगती है। जब कभी कोई भावना हमें प्रिय मालूम होती है तब, प्रतिकूल कारण उपस्थित रहने पर भी, उसको बलपूर्वक हृदय में छिपाये रखने की इच्छा होती है। इसी कारण मनोदशा को अनुकूल रखने के लिए तर्क की प्रवृत्ति भी तदनुकूल हो जाती है। सङ्कल्प की जैसी प्रकृति रहती है, तर्क उसी का अनुगमन करता है। पत्नी के आभूषणों को देख-देखकर पति उसकी अनुपस्थिति का निर्वाह मन को भुलाकर कर ले सकता है; क्योंकि मनुष्य अपनी सुख-सुविधा का विचारकर कभी-कभी आत्म-प्रवञ्चना भी करता है। मन भी, यदि उसमें वैसा सङ्कल्प हो तो, बड़ी सरलता से भुलाया जा सकता है। मन अपने सन्तोष के लिए स्वयं ऐसा प्रबन्ध कर लिया करता है। जिस सीमा तक मनुष्य के सुख-दुख मानसिक हैं, उस सीमा तक मन ही प्रधान है।

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त दूसरे उन्नत साहित्य में भी ऐसी बातें पायी जाती हैं। मुझे अभी एक रूसी कहानी की

नायिका थैरेसा की याद आ रही है। उसने अपनी मानसिक शक्ति का ज्वलन्त परिचय दिया है। थैरेसा का प्रेमी संसार में नहीं है, किन्तु अपने मानसिक सन्तोप के लिए वह अपने प्रेमी के पास प्रेम-पत्र लिखाकर भेजती है और फिर उसका उत्तर भी, कुछ दिनों की प्रतीक्षा के बाद, स्वयं लिखाती है।

प्रेम-दशा की तर्कहीनता

प्रत्यक्ष जगत में ऐसी बात अद्भुत मालूम होती है, किन्तु जीवन की भावुकता-पूर्ण स्थिति में इससे भी अधिक आश्चर्यजनक काम होते देखे गये हैं। प्रेमिका तथा प्रिया, नायिका के ये दो भिन्न रूप हैं। जब नायिका सक्रिय प्रेम-तत्पर होती है, तब वह प्रेमिका बनती है और जब उसमें केवल प्रेम को ग्रहण करने की पात्रता ही होती है, तब वह प्रिया बनी रहती है। तुल्यानुराग में यह भेद बहुत-कुछ मिट जाता है। जीवन के ये क्रिया-कलाप भावों की गति-विधि की सूचना देते हैं। ग्रामगीतों में जो स्वाद है, वह आजकल के तथाकथित सभ्य पुरुषों को प्राप्त नहीं हो सकता। बुद्धि-व्यवसाय ही जिनके जीवन का ध्येय है, उनके लिये कविताएँ नहीं रची जातीं। ग्रामगीत की ही बात क्यों, कविता-मात्र के आस्वाद के लिये जिस सहृदयता, जिस रसिकता की अपेक्षा होती है, उसमें बुद्धि का पराभव रहता है। हृदय सनातन है, बुद्धि गतिशील है। बुद्धि की सत्ता को एकान्त रूप से अस्वीकृत कर देने पर हृदय को अपनी गति के लिये क्षेत्र नहीं मिल सकता, किन्तु बुद्धि की प्रबलता भी रस-परिपाक में एक बाधा है। बुद्धिमान रहते हुए भी जो तर्कहीन होकर ग्रामगीत या कलागीत का स्वाद लेता है, वही वस्तुतः काव्य-रसिक है।

ग्रामगीतों में काल की अवधि को बताने के लिये साधारण इतिवृत्तात्मक ढङ्ग का प्रयोग न कर, गोचर प्रत्यक्षीकरण रूप का व्यवहार प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। काल-बोध की ऐसी काव्योपयुक्त प्रणाली से ग्रामगीत की रचयित्रियों की भावुकता तो झलकती ही है, साथ ही ग्राम-जीवन के अनुकूल मौग्धत्व का निर्वाह भी हो जाता है।

ग्रामगीत में काल-बोध

कवनी उमिरिया सासू निबिया लगायेन,
कवनी उमिरिया गये बिदेसवा हो राम ॥१॥
खेलत कूदत बहु बरि निबिया लगाये,
रेखिया भिनत गै विदेसवा हो राम ॥२॥
फरिगै निबिया लहसिगै उरिया,
तबहू न आये तोर बिदेसिया हो राम ॥३॥

[वहू कहती है—हे सास जी ! तुम्हारे परदेशी पुत्र ने किस उम्र में यह नीम लगाया था और किस उम्र में वे परदेश गये ?

सास ने कहा—खेलने-कूदने की उम्र में उसने नीम लगाया था और रेख भींजते वह परदेश गया।

वहू कहती है—नीम फलने भी लगी। डाल लहलहा उठी। हाय ! फिर भी तुम्हारा परदेशी नहीं आया।]

वीदिन वटी वटवा पलटो नीचायो हो,
सिलंग डावी लगै गयो भरफूले ह्वैगे हो।
मैं रूपा ह्वै गयो भर जोवन वटवा लोग,
वीदिन वटी वीले पलटी नीचायो हो ॥

[पाणिग्रहण के वाद वह विदेश गया था, तव से नहीं लौटा। उसके लगाये सिलंग के पेड़ में फूल लग गये हैं।

मैं, अब, हे पथिक ! युवती हो चुकी हूं, लेकिन वह अभी तक नहीं लौटा ।]

इतिहास और काव्य—दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। संख्यासे कलांशों के दीर्घत्व का जो बोध होता है, वह इतिहास की शैली है और जो उसका एक गोचर समन्वय उपस्थित करता है, वह काव्य है। नीम या नींबू का वृक्ष रोपकर जो पति विदेश गया, वह अवतक न लौटा, पर वह वृक्ष अब फूलने-फलने लगा है। काल के मापदण्ड की यह प्रणाली काव्य-कला का कौशल नहीं, हमारी आरण्यक संस्कृति का प्रतिफल है। प्रकृति का यह साहचर्य सनातन है। पेड़-पौधों में प्राण-प्रतिष्ठा, विज्ञान ने चाहे उसे आज प्रमाणित किया हो, मानव-जीवन के साथ ही कल्पित की गई है। बोध्य और रम्य में तात्त्विक अन्तर है। बोध बुद्धिगत प्रतीति है और रमण हृदयगत। इसी कारण गीत में हृदयगत प्रतीति के लिये, वर्षों की संख्या के रूप में बुद्धिगत काल-बोध न कर, एक छोटे वृक्ष के बड़े होने का इन्द्रियग्राह्य विधान उपस्थित किया गया है। ऐसे रमणीय वर्णन से विगत काल जीवन्त तथा प्रत्यक्ष हो उठता है। प्रतीति की इस पद्धति पर चलने से काव्य में सजीवता झलकती है। अंगरेजी में भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग बहुत होते हैं। इसी प्रकार 'उसकी अवस्था पन्द्रह वर्ष की है' के बदले 'उसने अपने जीवन में पन्द्रह वसन्त देखे हैं' जैसा प्रयोग अब साधारण काव्य-कौशल समझा जाने लगा है।

स्त्री और पुरुष रचयिताओं के दृष्टिकोण एक दूसरे से कुछ भिन्न-से रहते हैं। मानवता के नाते भावनाओं में कुछ विशेष

अन्तर नहीं होता, किन्तु कुछ ऐसी बातें रहती हैं, जो जीवन के भावना-भेद को स्पष्ट करती हैं। प्रणय-भाव को बनाये रखने के लिये स्त्री और पुरुष, दोनों के हृदय में दोनों की प्रतिष्ठा बनी रहती है, परन्तु साधारणतः स्त्रियाँ अपने हृदय में पुरुषों को रखने की अपेक्षा स्वयं उनके हृदय में ही रहना ज्यादा पसन्द करती हैं।

ग्रामगीत में स्त्रीत्व और पुरुषत्व

ग्रामगीत और कलागीत दोनों ढङ्ग की रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त कवयित्रियों ने अपने गीतों में स्वकीया के प्रेम, विरह, उच्छ्वास की जितनी प्रतिष्ठा दी है, उतनी पुरुषों ने नहीं। ग्रामगीतों में स्वकीया के सरल प्रेम की मार्मिक व्यञ्जना है। कुछ ऐसे गीत भी हैं, जो स्वकीया की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं पड़ते, किन्तु ऐसे गीत जीवन की विधि के नहीं, निषेध के सूचक हैं। शृङ्गारिक कवियों ने अपनी विलासवृत्ति के परितोष के लिये स्त्रियों से कौन-कौन-सी चेष्टाएँ न कराई हैं। इसका यही कारण है कि उन काव्यों की रचना करनेवाले पुरुष हैं। इसकी प्रतिक्रिया स्त्रियों में भी होती रही है और अवसर मिलने पर पुरुषों के संभ्रम तथा श्रेष्ठता को उन्होंने नीचा दिखाया है। किन्तु; विडम्बना की बात यही है कि स्त्री और पुरुष, दोनों अपने-अपने स्थान पर ही हैं और रहेंगे। नदियाँ समुद्र में न गिरें तो जायँ कहाँ! विलासिता का लक्ष्य एक ही है, स्त्री और पुरुष दोनों अपने-अपने मार्ग से एक ही केन्द्रविन्दु पर पहुँचते हैं। कहीं पुरुष ने स्त्री को विरह से पगली बना दिया है, तो कहीं स्त्री ने ही पुरुष की खूब धज्जियाँ उड़ाई हैं। एक ग्रामगीत में रसिक कन्हैया की अच्छी खबर ली गई है—

मोरे पिछवरवाँ कुम्हरवा की बखरी,
अच्छी-अच्छी मेटुकी भँवायो जी ॥१॥

असकै चाक चलाये रे कुम्हरवा,
दहिया बेचन हम जाइब जी ॥२॥

असकै चाक चलैहौं गुजरिया,
दधिया लेवैया लोभि जावै जी ॥३॥

×× ×× ××

एक घर नांघि दूसर घर गांध्यों,
तिसरे में मिले हैं कन्हैया जी ॥९॥

छोड़ो कन्हैया बहियाँ हमारी,
हमरे ससुर बड़े जालिम जी ॥१०॥

तुमरे ससुर को मैं हथिया पटैहौं,
तुमको बैठरिहौं अपने राजहिं जी ॥११॥

×× ×× ××

छोड़ो कन्हैया बहियाँ हमारी,
सइयाँ हमरे दुख दारुन जी ॥१६॥

तुमरे बलम का मैं करिहौं बियहवा,
एक गोरी एक साँवर जी ॥१७॥

तनियक पिछवड़ होइ जाओ कान्हा,
जमुना में खेलिहौं डुबैया जी ॥१८॥

एक बुड्डी मारिन दुसर बुड्डी मारिन,
गोरिया उतरि गईं पारै जी ॥१९॥

पूछन लागे गइया चरवहवा,
बखरी गुजरिया बताओ जी ॥२०॥

जाइके बैठे कान्हा कुँवाँ जगत पर,
बखरी गुजरिया बताओ जी ॥२१॥
जेहिके दुआरे कान्हा बाँधे है पँड़रवा,
वही गुजरिया की बखरी जी ॥२२॥
हाथ में चुड़िला पाँव में बिछिया,
पहिरिन चटक चुनरिया जी ॥२३॥
निहुरे निहुरे गुजरी अंगना बहारैं,
पीछे ठाढ़े कन्हैया जी ॥२४॥
लागी कहन परोसिन उनसे,
पीछे बहिन तुमरी ठाढ़ी जी ॥२५॥
ना तो चचा के ना तो बबा के,
दुसरी बहिन कहाँ पावा जी ॥२६॥
तुमरा वियाह बहिन हमरा जनमवा,
दुसरी बहिन तुम पायो जी ॥२७॥
दूनों बहिन मिलि पिसना जो पीसैं,
मूसर घुमावैं मरदाने जी ॥२८॥
दूनौं बहिन मिलि कुटना जो कूटैं,
मूसर घुमावैं मरदाने जी ॥२९॥
दूनौं बहिन मिलि रोटिया बनावैं,
थपकी चलावैं मरदाने जी ॥३०॥
दूनौं बहिन मिलि जेंवन जो बैठीं,
कौर उठावैं मरदाने जी ॥३१॥
एक दिन बीता दूसर दिन बीता,
कान्हा कहेन मुसकाई जी ॥३२॥

जीजाजी खटिया बरौठा में डारौ,
हम तुम सुतब महलिया जो ॥३३॥
खटिया बइठि कान्हा रसभरि चितवैं,
भौंहा चलावैं मरदाने जी ॥३४॥
समुझि समुझि मन हँसी गुजरिया,
झपटि के भागि दुवारे जी ॥३५॥
भागो कन्हैया जियरा बचाओ,
आइगे सहर बड़ जालिम जी ॥३६॥

xx xx xx

भागो कन्हैया जियरा बचाओ,
आइये सैयाँ बड़ दारुन जी ॥३९॥
ओढ़नी उतारि कान्हा अँगना में फेंकेनि,
लहँगा उतारि जतसारी जी ॥४०॥
हालाहाली टिकुली उतारै न पावनि,
कूदि गयेन उँड़वारी जी ॥४१॥
हथवा बजायके हँसी गुजरिया,
ठहरौ न कान्हा रस लूटौ जी ॥४२॥

[मेरे पिछवाड़े कुम्हार का घर है। हे कुम्हार! तुम बहुत अच्छी तरह चाक चलाना और सुंदर मटुकी बना देना। मैं दही बेचने जाऊँगी ॥१,२॥

कुम्हार ने कहा—हे गूजरी! मैं ऐसा चाक चलाऊँगा और ऐसी सुंदर मटुकी बना दूँगा कि दही लेनेवाला लुभा जायगा ॥३॥

गूजरी दही बेचने निकली। एक घर में बेचकर, दूसरे घर में गई। तीसरे में गई। वहाँ उसे कन्हैया मिल गये। उन्होंने गूजरी की बाँह

पकड़ ली। गूजरी ने कहा—हे कन्हैया! मेरी बाँह छोड़ दो। मेरे ससुर बड़े क्रोधी हैं॥९,१०॥

कन्हैया ने कहा—मैं तुम्हारे ससुर के लिये हाथी भेजूँगा और तुमको राजगद्दी पर बैठा दूँगा॥११॥

XX XX XX

गूजरी ने फिर कहा—हे कन्हैया, मेरी बाँह छोड़ दो। मेरे स्वामी बड़े ही कठोर स्वभाव के हैं॥१६॥

कन्हैया ने कहा—मैं तुम्हारे स्वामी का दो विवाह करा दूँगा। एक साँवली होगी, दूसरी गोरी॥१७॥

गूजरी ने छुटकारे का जब कोई उपाय न देखा, तब उसने कहा—हे कन्हैया, जरा तुम मुँह उधर कर लो। मैं यमुना में एक डुबकी ले लूँ॥१८॥

कन्हैया ने उसे डुबकी मारने के लिए छोड़ दिया। एक डुबकी के बाद दूसरी डुबकी मारकर वह पानी ही पानी में उस पार हो गई और अपने घर चली गई॥१९॥

कन्हैया उसका घर खोजते हुए चले। उन्होंने गोरू-चरानेवालों से पूछा—हे भाई! दही बेचनेवाली गूजरी का घर मुझे बता दो॥२०॥

कन्हैया कुएँ की जगत पर जाकर बैठे। उन्होंने पनिहारिन से पूछा—हे पनिहारिन! मुझे गूजरी का घर बता दो॥२१॥

पनिहारिन ने कहा—हे कन्हैया, जिसके द्वार पर भैंस के पँड़वे बँधे हैं, वही गूजरी का घर है॥२२॥

कन्हैया ने हाथों में चूड़ियाँ, पाँवों में बिछुवे और शरीर पर चटकीली चुनरी पहन ली॥२३॥

गूजरी झुकी हुई अपने आँगन में झाड़ू लगा रही थी। पीछे मुड़कर वह देखती है, तो कन्हैया खड़े हैं॥२४॥

पड़ोसिन ने गूजरी से कहा—देखो, तुम्हारी वहन खड़ी है ॥२५॥

गूजरी ने कहा—न तो मेरी कोई चचेरी वहन है, न कोई सगी। यह वहन कहाँ से आई ? ॥२६॥

कन्हैया ने कहा—हे वहन ! तुम्हारा विवाह हो जाने के बाद मेरा जन्म हुआ था। इस प्रकार मैं तुम्हारी दूसरी वहन हूँ ॥२७॥

दोनों वहनें मिलकर आँटा पीसने लगीं। दूसरी वहन का हाथ मर्द की तरह चलता था ॥२८॥

दोनों वहनें मिलकर कूटने लगीं। दूसरी वहन का हाथ मर्द की तरह उठता था ॥२९॥

दोनों वहनें मिलकर रोटी वनाने लगीं। दूसरी वहन की थपकी मर्द की तरह चलती थी ॥३०॥

दोनों वहनें मिलकर भोजन करने बैठीं। दूसरी वहन मर्द की तरह कौर उठाती थी ॥३१॥

एक दिन बीता, दूसरा दिन बीता। तीसरे दिन कन्हैया ने मुसकुरा कर कहा—॥३२॥

जीजाजी की खाट बरौठे (वरंडे) में डाल दो। हम तुम महल में सोवें ॥३३॥

खाट पर वैठकर कन्हैया रसीली चितवन से देखने लगे और मर्द की तरह भौंह चलाने लगे ॥३४॥

गूजरी को पहले ही से शक था। वह ताड़ गई। कन्हैया की चतुराई समझकर वह मन ही मन मुसकुरा रही थी। इतने में झपटकर वह दरवाजे की ओर भागी ॥३५॥

उसने कहा—हे कन्हैया, भागकर अपनी जान बचाओ। मेरे महा-क्रोधी ससुर आ गये ॥३६॥

कन्हैया ने ओढ़नी उतारकर आँगन में फेंक दिया और लहँगा जांत के घर में। पर जल्दी में टिकुली (बेंदी) उतारने का मौका न मिला। वे डँड़वार (पाख) कूदकर घर से बाहर हो गये ॥४०-४१॥

कन्हैया को भागते हुए देखकर गूजरी ताली बजाकर हँसने लगी और बोली—कन्हैया, भागे कहाँ जाते हो ? आओ न ? रस लूटो ॥४२॥]

ऐसी ही एक कविता पद्माकर की है—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय "लला फिरि आइयो खेलन होरी"॥

[फगुवे की उमंगभरी घड़ी में गोपियों ने कन्हैया को गिरफ्तार किया और एक कमरे में बंदकर इच्छानुसार अबीर-गुलाल से उनकी मरम्मत की। कपोलों में अबीर खूब मलकर कमर की धोती छीन उन्हें नंगा कर दिया और मुसकानभरी चितवन के साथ उन्हें विदा करती हुई वे बोलीं—'लला, फिर होली खेलने के लिए आना।']

ऐसी रचनाएँ एक विशेष प्रकार की द्योतक हैं। स्त्री ने पुरुष को अपनी श्रेष्ठता का जैसा अभियुक्त बनाया, मालूम होता है,

उपर्युक्त का विवेचन

पुरुष ने, पद्माकर के प्रतिनिधित्व में, उसे सहर्ष स्वीकृत कर लिया। जिस चेष्टा से स्त्री की विलास-वृत्ति संतुष्ट होती है, उससे दूर रहना रसिक पुरुषों के लिए भी संभव नहीं। स्त्री और पुरुष दोनों की लालसा, वासना, विलासिता आदि मनोवृत्तियाँ दो भिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर भी एक ही लक्ष्य में सन्निहित हो जाती हैं। जहाँ रचना का उद्देश्य कुत्सित मानसिक विलास नहीं रहता, बल्कि स्त्री के

सतीत्व की मर्यादा दिखाना होता है, वहाँ वाणी की प्रतिपत्ति यथा-संभव पाठक या श्रोता के हृदय में तदनुकूल मनोविकार ही उत्पन्न करती है। यह भी एक मानसिक विलास ही है, किन्तु जीवन को शक्ति देनेवाला और महत् सौंदर्य से भरा हुआ विलास है। स्त्री का सतीत्व एक मर्यादा है। ग्रामगीतों में ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं, जिनमें स्त्रियों ने अपने अनुपम साहस, धैर्य, चातुर्य से अपने सतीत्व की रक्षा की है। स्त्रियाँ बुद्धि से किंचित् ही पराजित होती हैं, भाव से सहज ही पराभूत हो जाती हैं।

उपसंहार

ग्रामगीतों में यत्र-तत्र ऐतिहासिक तथ्यों का भी समावेश किया गया है, जिन्हें हम 'सत्य कल्पनाएँ' कह सकते हैं। ऐसे बहुत-से गीत हैं, जिनका आधार कोई-न-कोई ऐतिहासिक पुरुष या स्त्री हैं और ऐसे विषयों पर जो परंपरागत गीत हैं, वे समाज को अपनी दिशा में बराबर आत्मशक्ति देते रहे हैं। गार्हस्थिक या पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले गीतों में कुछ तो सुखजनक करुणापूर्ण हैं और कुछ करुणाजनक सुखमय। अधिकांश ग्रामगीत, जिन्हें स्त्रियाँ ज्यादा पसन्द करती हैं, करुणाजनक होते हैं; क्योंकि स्त्री-प्रकृति स्वाभाविक रूप से स्वपीड़न-प्रधान होती है। भारतीय जीवन का सामान्य स्वरूप ग्रामगीतों में ही मिलता है, कलागीत में उसका स्वरूप विशेष संस्कृत तथा शिष्ट होकर रूढ़ तथा परम्पराभुक्त हो गया है।

नवाँ अध्याय

कलागीत की प्रवृत्तियाँ

ग्रामगीत की प्रकृति

ग्रामगीत में जीवन का जो सरल रूप सन्निहित किया गया, वह कलागीत में, उसी वेश में, समाविष्ट नहीं हो सका। उसमें ऐसे कितने विजातीय द्रव्य मिले, जिनके कारण कल्पना में जीवन का सौन्दर्य भले ही कुछ बढ़ा, किन्तु वास्तविकता के साथ वह सम्बन्ध नहीं बना रह सका। जीवन-तत्त्व की जो अपूर्व विशेषता ग्रामगीत में व्याप्त थी, वह कलागीत में सर्वत्र नहीं पाई जाती। ‘अतः हमारे वर्त्तमान काव्य-क्षेत्र में, यदि अनुभूति की स्वच्छन्दता की धारा प्रकृत पद्धति पर अर्थात् परम्परा से चले आते हुए मौखिक गीतों के मर्मस्थल से शक्ति लेकर चलने पाती, तो अपनी ही काव्य-परम्परा होती—अधिक सजीव और स्वच्छन्द की हुई’[1]। कलागीत के सम्बन्ध में जैसे हम एक दूसरे कवि के विषय में अपनी रुचि या अरुचि का प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं, वैसा विवेक ग्रामगीत में नहीं रहता। कालिदास या भवभूति, तुलसी या सूर, देव

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७२८।

या विहारी में कोई किसी की रचना पसन्द करता है, तो कोई किसी की ; किन्तु ग्राम-गीतों के समूह में इतना व्यक्ति-भेद नहीं होता, क्योंकि वहाँ वैयक्तिक सत्ता का वह मूल्य ही नहीं रहता।

ग्राम-गीत और कला-गीत में साधारणतः कोई तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरा पहले का विकास-मात्र है। वाल-सौन्दर्य और यौवन-सौन्दर्य में जो अन्तर है, वही उन दोनों में है। ग्राम-गीत में जातीय हृदय को स्पर्श करने की जो अपूर्व मार्मिकता है, वह कला-गीत में नहीं। इस मार्मिकता से हम व्यक्तिगत या जातीय रूप में वहुत वढ़ आए हैं, किन्तु तरुणता में जीवन का जो स्वाद है, वह वचपन की मधुर स्मृतियों को रसहीन नहीं वना देता, प्रत्युत् अधिक अग्रसर होने पर भी कभी-कभी आरम्भ की वातें सुखद मालूम होती हैं। वाल्यावस्था का जो जीवन-तत्त्व है, वही किशोर, यौवन तथा वृद्धावस्था तक अविच्छिन्न रूप से विकसित तथा प्रवाहित होता चलता है। उस में केवल अवस्था-विशेष के कारण थोड़ा-वहुत संकोच-विस्तार होता है और अन्त में वह वहीं पहुँचता, जहाँ से उसका आरम्भ हुआ है। सभ्यता भी जव अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है, तव वहाँ से पीछे हटने लगती है। कला-गीत भी अपने कृत्रिम आदर्श तक पहुँचकर स्वाभाविकता के अनुसन्धान में पीछे हटने को वाध्य होता है।

ग्राम-गीत और कला-गीत का भेद

कला-गीत की साधारणतः दो पद्धतियाँ हैं—अन्तर्मुखी तथा वहिर्मुखी। जहाँ हम वाह्य जगत का चित्रण अप्रस्तुत विधान के द्वारा करते हैं, वहाँ हमारी वृत्तियाँ सादृश्यमूलक चित्रों के सहारे

अपनी अभिव्यक्ति चाहती हैं, किन्तु अन्तर्मुखी काव्य में इस
अपनी वृत्तियों की सचाई के लिए बाहर के प्रमाण या मापदण्ड
खोजने का प्रयत्न नहीं करते। यही सम्वेदनात्मक

कला-गीत की दो पद्धतियां

शैली है। गीतों या मुक्तक काव्यों में इसकी
प्रतिष्ठा आवश्यक है। जब कवि एक द्रष्टा के
रूप में शेष जगत की किसी वस्तु का वर्णन करता है और अपनी
रुचि, अरुचि, प्रेम, घृणा आदि भावों से यथासम्भव अनासक्त
रहता है, तब यह वर्णन बहुत-कुछ निरपेक्ष कहा जाता है, किन्तु
तात्त्विक दृष्टि से न तो कोई कवि अपने व्यापार में अनासक्त
रहता है और न उसका कोई वर्णन ही निरपेक्ष माना जा सकता
है। 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा' वर्त्तमान रहता है। व्यापार-दृष्टि से
कवि यथासम्भव अपनी सत्ता को अप्रकट रखने की चेष्टा करता
है। ऐसा प्रयत्न प्रबन्ध-काव्य की रचना में विशेष सुविधाजनक
है। गीत या मुक्तक काव्य में सम्वेदनात्मक शैली का विधान
उपयुक्त होता है। किसी नायिका के सौन्दर्य-

सम्वेदनात्मक शैली का स्वरूप

वर्णन के लिए तरह-तरह के उपमान जुटाये जाने
पर भी द्रष्टा के हृदय-तत्त्व का यदि उसमें पता न
लगे, तो सारा वर्णन कल्पना का महल ही मालूम होगा। वह
चन्द्रमुखी है, वह बड़ी सुन्दर है, वह अत्यन्त सुन्दर है, इतना या
इस प्रकार बहुत कुछ कह चुकने पर भी जिस सुन्दरता का बोध
नहीं होता, वह केवल—'आह, वह कितनी सुन्दर है!'—जैसी
मार्मिक वाणी से हृदयङ्गम हो जाता है। सुन्दरता का यह सम्वे-
दनात्मक स्वरूप है। पहले ढङ्ग की उक्तियाँ बुद्धिगत बोध से
ज्यादा सम्बन्ध रखती हैं और पिछली उक्ति हृदय की अनुभूति

है—प्रतीति है। ऐसी उक्ति प्रमाण-सापेक्ष्य नहीं होती और परिणामतः वह हृदय पर अभूतपूर्व प्रभाव डालती है। जिनके हृदय में किसी भाव की गम्भीर तथा मार्मिक अनुभूति नहीं हुई रहती, वे भी मजमून बाँधने का बहुत हौसला रखते हैं और बाँधते-बाँधते, कल्पना के सहारे, भावों से इतनी दूर बढ़ जाते हैं कि वे वास्तविक काव्य के बदले एक तमाशा खड़ा कर देते हैं। जिनके पास अनुभूति-पोषित गम्भीरता तथा मार्मिकता है, वे बहुत कुछ कहने का हौसला नहीं रखते। केवल वचन-विदग्धता ही काव्य नहीं है। कम-से-कम वाणी में हृदय की अनुभूति को अभिव्यक्त करने में योग देनेवाली प्रकृति भाव-केन्द्र के समीप की ही रहती है। अनुभूति की गम्भीरता वाणी को संयत रखती है। जिन्हें हृदय की यह विभूति प्राप्त नहीं, उनकी वाणी कल्पना की हवा में उड़ती चलती है।

अनुभूति एक तथ्य है, किन्तु कल्पना सदा व्यक्तिगत होती है। महत् अनुभूति के बिना विराट् कल्पना बालू की भीत है।

अनुभूति और कल्पना

जिस कल्पना में अनुभूति की नींव कमजोर रहती, वह न तो टिकती है और न प्रभाव ही उत्पन्न कर सकती है। अनुभूति की उपेक्षा कर उड़ने-वाली कल्पना उड़ भले ही जाय, पर वह अपने सार-सर्वस्व को छोड़कर उड़ती है। इसीलिये वह हृदय को रमाने के बदले उसे कौतुक और वैचित्र्य में डाल देती है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि ऊँची अट्टालिका या पहाड़ की चोटी पर चढ़कर नीचे भूमि की ओर देखने से भय और उल्लास का जो सौन्दर्य मालूम पड़ता है, वह हवाई जहाज पर चढ़ कर नहीं। अट्टालिका या पहाड़

की चोटी का भूमि के साथ जो अभिन्न सम्पर्क है, वही द्रष्टा के हृदय में विद्युत् का प्रवाह सञ्चारित करता है। हवाई जहाज पर उड़नेवाले को पृथ्वी की विद्युत्-शक्ति प्राप्त नहीं होती। उसे जगत् के दृश्य में केवल वैचित्र्य और कौतुक ही मिलता है। इसी प्रकार अनुभूतिहीन कल्पना, जीवन-तत्त्व को छोड़कर उड़ने के कारण, हृदय को अपने साथ नहीं ले जा सकती। काव्य के प्रत्येक पद में हृदय-तत्त्व नहीं खोजा जा सकता, प्रत्येक पंक्ति में भी उसका निर्वाह सम्भव नहीं। हर टहनी में फूल भले ही खिले, पर हर पत्ते में फूल खोजना पागलपन है। टहनियों के झुरमुट में, पत्तों के हरे-भरे आवरण में, खिले फूल की जो शोभा होती है, वह ऊजड़ डालियों में नहीं। कल्पना का वितान उसी सीमा तक शोभाप्रद माना जा सकता है, जहाँतक वह अनुभूति को अभिव्यक्त करने में सहायक बनती हो। केवल कल्पना और वैचित्र्य की प्रधानता में जितने काव्य बने, उनका प्रभाव मानव-जीवन पर यथेष्ट नहीं पड़ा। जनता के प्रति कवियों का जो दायित्व है उसे, समझने तथा उसके अनुसार अपने काव्य की रचना करने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। परिणाम वही हुआ, जो ऐसी स्थिति में सम्भावित था। जनता ने इसी कारण ऐसे बहुत-से कवियों का गुरुत्व नहीं स्वीकृत किया। विनोद में ही उनको उड़ा दिया। कुछ आलोचकों की यह धारणा है कि 'कला, कला के लिए' की भावना 'खट्टे अंगूर कौन खाय' से ही सम्बन्ध रखती है। जनता ने वैसे काव्यों को जब जीवन के उपयुक्त न पाया, तब वैसे काव्य केवल कला की दृष्टि से, कला की कृतियाँ माने

कलावाद की वस्तविकता

गए। बहुत-से कवि जो अपनी रचनाओं के द्वारा किसी गम्भीर विषय की शिक्षा देना चाहते थे, वे भी विनोद में उड़ा दिए गये और उनकी सारी कृतियों का मूल्य मनोरञ्जनमात्र रहा[१]। जीवन के गम्भीर उद्देश्य की प्राप्ति का साधन वे न बन सकीं। जनता की ऐसी धारणा अबतक भी निर्मूल नहीं हुई है और 'आप कवि हैं' के भाव से उसकी सारी मनः स्थिति समझी जा सकती है। संस्कृत के एक कवि ने बहुत ही व्यथित होकर कहा है—प्रशंसा के श्लोक बनाकर भेजने से क्या लाभ! अपने दुखों की चर्चा से भी कुछ लाभ नहीं। सम्भव है, वह धूर्त्त मेरी इन सब बातों को केवल कवि-कल्पना ही समझे[२]। कवियों की अवस्था उनके लिये गौरव-पूर्ण नहीं, बल्कि जनता के सामने उनके महत्त्व का पराजय है।

हिन्दी के कला-गीत का आविर्भाव-काल साधारणतः वीरगाथा का समय ही माना जाता है। यों हिन्दी-भाषा के स्वरूप के अन्तर्गत आनेवाली कविताएँ दो-चार शताब्दि पहले से ही होती रही हैं। मानव-जीवन जब भोजन-वस्त्र की चिन्ता से मुक्त-सा हो

---

१. In bringing his bold criticism of English Social life on to the stage, Bernard Shaw attracted immediate attention, though few thought of taking his criticisms seriously. His exposures and attacks were witty and amusing, and the British public soon came to adopt him as a sort os licensed iconoclast which is a sure way of rendering a reformer ineffective.

David Daiches: Literature And Society, p. 263.

२. वृथा गाथा श्लोकै श्श्मलमलीकां ममरुजं।
कदाचिद् धूर्तोऽसौ कविवचनमित्या कलपति॥

जाता है, तब उसे युद्ध और प्रेम की बात सूझती है। अपनी स्थिति के निर्वाह या उसके प्रसार की इच्छा से जो युद्ध किए जाते हैं, वे प्रेम के साथ स्पष्ट सम्बन्ध नहीं रखते। बहुत से युद्ध केवल प्रेम के नाम पर अपनी महत्त्वाकाँक्षा की पूर्त्ति के निमित्त किये जाते हैं। सच्चे अर्थ में जो युद्ध है, उसका वर्णन इतिहासकार करते हैं और दूसरे ढंग के युद्धों का वर्णन कविगण। मानव-जीवन के क्रिया-कलाप में स्त्री-जाति की प्रेरणा का बहुत बड़ा हाथ रहा है। रामायण-महाभारत के भीषण युद्धों के चाहे और कारण रहे हों, किन्तु, सीता-हरण तथा द्रौपदी-चीर-हरण तो स्पष्ट ही हैं।

कला-गीत का आरम्भ-युद्ध और प्रेम

पुरुष और स्त्री के मनोविज्ञान में एक भेद की विशेषता है। पुरुष बाह्य सौन्दर्य पर जितना निमग्न हो सकता है, उतनी स्त्रियाँ नहीं, और अन्तः सौन्दर्य पर स्त्रियाँ जितनी विमुग्ध हो सकती हैं, उतना पुरुष नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्त्री और पुरुष के मनोविज्ञान का यह भेद बिलकुल गहरा है। बाह्य और अन्तः सौन्दर्य का महत्त्व अपनी स्थिति में ही रहता है। पुरुष की दृष्टि नारी के बाह्य सौन्दर्य पर और नारी की पुरुष के अन्तः सौन्दर्य पर पहले आकर्षित होती है। सुन्दरी रमणी तथा वीर पुरुष दोनों ही बन्दनीय माने जाते हैं। काव्य में पुरुष कवियों ने स्त्री के सौन्दर्य-वर्णन पर जितना ध्यान दिया, उतना उनके गुणों पर नहीं, और स्त्री कवियित्रियों ने भी पुरुष के गुणों पर जैसी अन्तर्दृष्टि रखी, वैसी उनके रूप पर नहीं। रूप और गुण के वर्णन दोनों ही ओर से हुए हैं, किन्तु स्वाभाविकता तथा प्रकृति

पुरुष-स्त्री का मनोवैज्ञानिक भेद

के अनुसार स्त्री-पुरुष के सामान्य सम्वन्ध का यह स्पष्ट अन्तर है ।
वीरता के गुणों पर स्त्रियों को आत्म-समर्पण करते वहुत सुना गया
है । किसी विपत्ति या कष्ट से छुटकारा दिलानेवाले वीर के
साथ सुन्दरियों ने जो सौजन्य दिखलाया है, वह सहज ही काव्य
में स्थान प्राप्त कर चुका है । स्त्रियों ने पुरुषों के हृदय में जो
रमणीय स्थान प्राप्त किया, वह केवल उनके वाह्य सौन्दर्य के वल
पर नहीं, उनके अन्तः सौन्दर्य का भी उसमें काफी श्रेय रहा है ।
किसी रमणी के मुख से अपनी प्रशंसा के शब्द सुनकर पुरुष को
जो आह्लाद होता है, वह उसकी प्राप्ति के अनुकूल प्रयत्न में कम
प्रेरणा नहीं देता । कुछ दिनों तक कला-गीत का केन्द्र-स्थल युद्ध-
प्रयत्न के वाद रमणी-रत्न की प्राप्ति का मनोरम वर्णन ही रहा ।
इस प्रकार के वर्णन में एक ओर स्त्री का रूप-सौन्दर्य, दूसरी ओर
पुरुष का शौर्य-वीर्य और मध्य में दोनों विन्दुओं को मिलानेवाला
प्रेम प्रधान वना रहा ।

पुरुष की आखेट-प्रियता

राजा या राजकुमार प्रारम्भ से ही आखेट-प्रिय होते आये हैं ।
सोती हुई सिंहनी को जगाकर शिकार खेलनेवाले राजकुमार को
जन-समाज में जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह
सोई सिंहनी पर वाण चलानेवाले को नहीं ।
अनायास या विना प्रयास जो राजकुमारी प्राप्त
हो जाती, उसको रमणी-रत्न का पद नहीं मिलता था, चाहे वह
पट्टमहिषी ही क्यों न हो । दुष्यन्त ने तूणीर से विना वाण चलाये
ही शकुन्तला के हृदय को प्रेम-विद्ध कर दिया, किन्तु कुछ दिनों के
उपरान्त कण्व-आश्रम के मृग-शावक भले ही दुष्यन्त को याद रहे
हों, वेचारी शकुन्तला उनकी स्मृति में भी वची न रह सकी !

युद्ध के हेतु जब गौण हो जाते हैं या विच्छिन्न हो जाते हैं, तब बहुधा 'युद्ध—युद्ध के लिये' ही किये जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जब काव्य के हेतु-तत्त्व का विस्मरण हो जाता है, तब 'काव्य, काव्य के लिये' ही मान ली जाती है। हेतु का औचित्य नष्ट होने पर ही ये तमाशे खड़े होते हैं। जीवन में युद्ध और प्रेम के स्वाभाविक स्फुरण होते हैं। जो वस्तु सहज ही प्राप्य है, उसको, युद्ध-प्रसङ्ग उपस्थित कर, दुःसाध्य बना देने से यौवन और पराक्रम को अपने प्रदर्शन का उपलक्ष्य मिल जाता है। हेतु को विच्छिन्न रखने के लिये कवियों को इसी उपलक्ष्य के उद्देश्य से वर्णन का अवसर प्राप्त हो जाता है। कला-गीत में युद्ध और प्रेम बहुधा मूल लक्ष्य के रूप में नहीं, प्रत्युत् वर्णन के उपलक्ष्य में ही समादृत हुए हैं।

युद्ध के हेतु—
यौवन का प्रदर्शन

युद्ध और प्रेम के समन्वय की अनुकूल परिस्थिति ज्यों-ज्यों दूर होती गयी, त्यों-त्यों प्रेम को अपने विकास का एकाधिकार मिलता गया, पर वह सर्वथा लौकिक नहीं बना रह सका। अन्तस्साधना के रूप में उसमें ज्ञान का योग हुआ, किन्तु हृदय-पक्ष को महत्त्व नहीं देने के कारण प्रेम-तत्त्व को विकास का समुचित क्षेत्र नहीं मिल सका। रागात्मक तत्त्व से हीन अन्तस्साधना मनुष्य के चित्त को तृप्त नहीं कर सकती, उसे समझा-बुझाकर एक दूसरे स्तर पर अवश्य खड़ा कर सकती है। ज्ञान-योग मस्तिष्क की आँखें खोल सकता है, पर हृदय को रमा नहीं सकता। निर्गुण में जब मानव-हृदय को परितृप्ति न मिली, तब सगुण रूप में उसे शान्ति मिली। ज्ञान-पक्ष में गुह्य और रहस्य की भावनाएँ इतनी विकट तथा

प्रेम-तत्त्व का
दिशा-भेद

जटिल रूप में उपस्थित हुई कि साधारण मनुष्य के लिए ज्ञान-पक्ष अज्ञेय ही बना रहा। सूफियों का प्रेम-तत्त्व अन्यत्र चाहे वासना-ग्रस्त ही रहा हो, परन्तु हिन्दी-काव्य में उसने रूपक के सहारे जीवन का सौन्दर्य उत्पादित किया। चराचर सृष्टि के साथ मानव-हृदय को सहानुभूति-सूत्र में बद्धकर अखण्ड जीवन का आभास देना प्रेम-कथाओं की विशेषता है और यह विशेषता सूफी कवियों में पर्याप्त थी। भावात्मक रहस्यवाद का प्रवेश होते ही काव्य में योगियों तथा तांत्रिकों के साधनात्मक रहस्यवाद के लिये गुँजाइश नहीं हो सकी।

ज्ञान-योग की रहस्यवादिता

अपनी अटपटी वाणी या उलटवाँसियों से सामान्य जनता की बुद्धि पर आतङ्क जमाने के अतिरिक्त ज्ञानवादियों ने उपासना को सम्मुख कर उनके हृदय पर भी अधिकार करने की चेष्टा की। 'जो ब्रह्म, हिन्दुओं की विचार-पद्धति में, ज्ञान-मार्ग का एक निरूपण था, उसीको कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठ-योगियों की-सी साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठ-योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद से मेल मिलाकर अपना पन्थ खड़ा किया। उनकी वाणी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं'[1]। इस तरह परि-स्थितिवश, निर्गुण ब्रह्म को भी उपासना के क्षेत्र में निरुपाधि से सोपाधि बनाया गया, पर उपासना का बाह्य स्वरूप विवादग्रस्त बना ही रहा।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी - साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ९४.

पूर्वभारत में राधाकृष्ण के उपलक्ष्य पर प्रेम-माधुरी की जो वंशी बजी, उसका स्वर मिथिला के आम्र-कुँजों में गूँजता हुआ व्रज की गलियों तक प्रतिध्वनित हो उठा। राधाकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूपों और प्रयत्नों पर जो रसात्मक दृष्टि डाली गई, वह काव्य में अतुलनीय है।

सगुणवाद का प्रेम-योग

मुक्तक रचनाओं के द्वारा प्रेम के विविध रूपों का इतना रमणीय वर्णन किसी भी साहित्य का शृंगार है। सगुणवादी कृष्णभक्तों ने अपनी वीणा पर राधा-कृष्ण के प्रेम का जो गान गाया, उसमें स्वर तो साधारणतः वही था, किन्तु हृदय की मार्मिकता अपूर्व थी। कृष्ण का बाल-रूप-वर्णन जिस मनोवैज्ञानिक विशेषता के साथ किया गया, वैसा शायद ही अन्यत्र हुआ हो। नित्य नये-नये भजन के रूप में अपने उपास्य राधाकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूपों, उनकी क्रीड़ाओं का वर्णन कर कृष्णभक्त कवियों ने अपनी अपूर्व विदग्धता का परिचय दिया। उनका यह संयत स्वर, कुछ काल का व्यवधान पाकर, रीतिकाल के कवियों की वाणी में अनियंत्रित होकर गूँज उठा। इस बीच में लोक-व्यवस्था के निरूपण के लिये राम-जैसे नायक को अपना आराध्य बनाकर काव्य का एक आदर्श उपस्थित किया गया जगत् और जीवन के विविध रूपों का जितना समन्वय रामायण में मिलता है, उतना अन्यत्र किसी काव्य में नहीं। समाज के आचार-विचार, धर्म-शिष्टाचार आदि की रचनात्मक समीक्षा कर, समाज को एक आदर्श का अनुगामी बनाने की चेष्टा की गई। उस समय लोक-गीतों के रूप में जितनी भी शैलियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थीं, उन सब का समावेश कला-गीत के रूप में कर दिया गया। जीवन में प्रेम-तत्व

का जो रूप अवतक अप्रस्फुटित तथा असंयत हो रहा था, वह स्पष्ट तथा संयत रूप में उपस्थित किया गया। सगुणवादी भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा जन-समाज के हृदय के रागात्मक पक्ष को वहुत ही रमणीय आलम्बन दिया, जिससे समाज को शक्ति मिली, उसका मनोरञ्जन हुआ। इसके साथ ही भक्त कवियों—निर्गुणवादी तथा सगुणवादी, दोनों—ने रसात्मक पक्ष के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति तथा नीति के वचनों से सामाजिक अव्यवस्था की तीव्र आलोचना की और विधि-निषेध का मार्ग वताते हुए अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, समाज-कल्याण का उपदेश दिया। काव्य को उनकी सेवा में साधन-स्वरूप होकर उपस्थित होना पड़ा। रसात्मक प्रसङ्ग के अभाव में चाहे काव्यत्व न भी उद्भासित हुआ हो, किन्तु उनकी वाणी से समाज ने लाभ उठाये और अपने विचार में परिवर्त्तन या संशोधन करने में भी वहुत कुछ वह समर्थ हुआ।

दरवारी ढंग की कविताओं में रचयिताओं का ध्यान स्वकीया से मुड़कर परकीया की ओर उद्भासित होने लगा। मुगल बादशाहों के आभिपत्य तथा आश्रय नीति ने इस प्रवृत्ति को उभाड़ने में बड़ा सक्रिय भाग लिया। विदेशी साहित्य के प्रभाव से भारतीय दाम्पत्य जीवन की सुरुचि में बड़ा व्याघात उत्पन्न हुआ और निष्क्रिय राजा-महाराजों की रंग-रेलियों के सुर-तान पर कला-गीत भी नाचने लगा। कला-गीत का यह आदर्श प्रेम की स्वतन्त्र उद्भावनाओं को ही दृष्टि में रखकर बनाया गया, क्योंकि विवाह में प्रेम को एक निश्चित परिधि के भीतर ही विकास का अवकाश

प्रेम-योग का दिशा-भेद

मिलता है। प्रेम में जहाँ कर्तव्य और अधिकार की भावना रहती
है, वहाँ उसके उन्मुक्त विकास की सम्भावना नष्ट हो जाती है।
परकीया के वर्णन में भावनाएँ उन्मुक्त रहती हैं, उनके लिए कोई
भी बन्धन नहीं होता। विवाह में प्रेम को जिस संयम और
नियन्त्रित रूप में छिपाना पड़ता है, उससे मुक्ति पाने के लिए
कवियों ने परकीया को ही अपना विषय बनाया। परकीया के

परकीया नायिका का महत्त्व

प्रेम या तथाकथित प्रेम में कल्पनाओं को जो
स्वच्छन्दता मिलती है, वह स्वकीया में नहीं।
लोक-बन्धन में कवियों को अपनी भावनाओं के
स्यतन्त्र स्फुरण की सुविधा नहीं रहती। खासकर बैठे-ठाले के
मन की मौज, परकीया को उपलक्ष्य मानकर, ज्यादा व्यक्त की जा
सकती है। यही कारण हुआ कि बहुत लम्बे अर्से तक परकीया
ही रसिक कवियों की दृष्टि में प्रधान लक्ष्य-बिन्दु बनी रही।
देव कवि के अनुसार—जोग हू ते कठिन संयोग परनारी को—
परकीया का संयोग योग से भी कठिन समझा गया और इस
कठिनता के प्रयासी बहुत से रसिक कवि तथा उनके पाठक बने।
घर में सती सुन्दरी को छोड़कर गलियों की खाक छानने में ही
उन्होंने अपनी बहादुरी समझी। परकीया के अतिरिक्त गणिका
भी स्वन्तत्र उद्भावनाओं की प्रेरणा देनेवाली नायिका बनी रही;

महत्त्व का कारण

किन्तु, परकीया के वर्णन में कवियों को जो
आनन्द मिला, वह गणिका में नहीं। स्वकीया,
परकीया तथा गणिका तीनों नायिकाओं के
प्रति कवियों की अन्तर्वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न रूप से अग्रसर होती
रहीं। स्वकीया के सहज प्रेम में उन्हें अपनी कल्पना के क्षेत्र का

विस्तार नहीं दिखाई पड़ा। गणिका भी उनका विशेष मनोरञ्जन करने में समर्थ नहीं हो सकी। प्राप्तव्य की दुस्साध्यता उसके महत्त्व को बढ़ा देती है। जो वस्तु अनायास या थोड़े प्रयत्न के साथ प्राप्त की जा सकती है, उसके प्रति मनुष्य को मोह नहीं होता। आखेट-प्रियता मनुष्य की प्रकृति है। जिस वस्तु को प्राप्त करने में कुछ दिक़्क़तें उठानी पड़ती हैं, उसका स्वाद कुछ अधिक प्रिय मालूम होता है। इसी प्रवृत्ति ने स्वकीया तथा गणिका, दोनों से अधिक परकीया की ओर ही कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रकार के कला-गीत विशेषतः उसी श्रेणी के व्यक्तियों का मनोरञ्जन करते रहे, जो जीवन की वास्तविकता से दूर रहकर हृदय की वासना का अन्तर्व्यतिक्रम ज्यादा पसन्द करते थे। उन्हें अपनी विलासमय भावनाओं की प्रकृति के विश्लेषण तथा उनके अन्तर्दर्शन की स्वाभाविक सुवृति थी और ऐसा करने के लिये उनके पास अवकाश भी था। रसिक कवियों के ऐसे निष्क्रिय पाठक या श्रोता को किसी उत्तेजनाजनक उपाख्यान के घटनानुक्रम की अपेक्षा भाव-विकृति में ही विशेष सुख प्राप्त होता था। ऐसे निरुद्यमों का काव्य एक ही संस्कार या प्रकृति के भावों का चर्वित-चर्वण करता रहा और कुछ सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को छोड़कर साहित्य को बहुत निम्न कोटि का काव्य मिला।

रसिकता कोमल भावों की आसक्ति का विलास ही है। ऐसी आसक्ति बिना किसी लक्ष्य के भी होने लगी। अपनी लालसा को शून्य में बढ़ाकर भी लोग उसके तथाकथित सौन्दर्य का रसास्वादन करने से न चूके। जीवन का न तो कुछ संघात

रहा और न कुछ लक्ष्य, पर भावों के विलास में ही काव्य की सारी मर्यादा तोड़ दी जाने लगी। वाह्य जगत् में जो सौन्दर्य है, उसकी अप्राप्यता से जो तृष्णा बढ़ने लगी, उसके परितोष के लिये हवा में ही मूर्त्ति-निर्माण की कल्पना सस्ती जान पड़ी। स्वकीया के अतिरिक्त परकीया तथा गणिका के वर्णन में जब साहित्य-शास्त्रियों ने रसाभास की धमकी दी, तब राधाकृष्ण के आलम्बन पर शृंगारिक कविताएँ रची जाने लगीं। कवियों का एक सम्प्रदाय ही ऐसा निकला, जो अपने मनोभावों को एक ही दिशा में व्यक्त करता रहा। राधाकृष्ण के उपलक्ष्य पर न मालूम ऐसी कितनी रचनाएँ की गईं, जिनका अस्तित्व कवि के अन्तर्जगत् के बाहर कहीं न था।

रसिकता—जीवन का लक्ष्य

रीति-काल की विशेषता

रीति-काल में रस, अलङ्कार और नायिका-भेद के अन्तर्गत इतना सूक्ष्म विवेचन हुआ, जितनी संस्कृत साहित्य-शास्त्र के पूर्वाचार्यों ने कल्पना तक न की होगी। रीति-काल का मूल आधार तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र ही रखा गया, किन्तु विवेचन और विनियोग की सूक्ष्मता में संस्कृत का यथातथ्य आधार न रह सका। कवि और आचार्य, दोनों समानार्थक माने जाने लगे। वह कवि ही क्या, जिसने शास्त्रीय पद्धति का पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन न किया, और वह आचार्य ही कैसा, जिसने अपनी रसमयी रचनाओं के भिन्न-भिन्न उदाहरण न दिये हों। यही स्थिति थी। उस समय कवियों ने मुख्यतः विलास-वृत्तियों को ही सन्तुष्ट करने का प्रयत्न-विस्तार किया, जीवन-संघर्ष से उत्पन्न समस्याओं के प्रति वे प्रायः

तटस्थ रहे। नाम गिनाने लायक दो-चार कवि ऐसे अवश्य हुए, जिनकी वाणी में दूसरा स्वर था, किन्तु काल का प्रतिनिधित्व उनसे न हो सका। नायिका-भेद के अङ्गोपाङ्ग के वर्णन में रीति-काल के कवियों ने मानों सारा रस-भण्डार खर्च कर डाला।

नायिका-भेद स्त्रियों का वस्तुतः सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, किन्तु इसके अतिरिक्त जीवन की दूसरी अवस्थाओं में भी मनोविज्ञान का उपयोग हो सकता है, यह सोचने का अवकाश ही किसे था। स्वकीया, परकीया तथा गणिका के मुख्य भेदों के सिवा उनके अगणित अवस्था-भेद किये गये। काव्य में यह संस्कार इतना

नायिका-भेद का विश्लेषण

दृढ़ रहा कि उसकी परम्परा अब भी किसी-न-किसी रूप में जारी है। नायिका-भेद के अन्तर्गत 'देश-सेविका' जैसी कई तरह की नायिकाएँ भी स्थान पा गयीं। यह शुभ प्रयत्न नहीं माना जा सकता। शृङ्गार के आलम्बन के रूप में ही नायिका-भेद का अस्तित्व है। जन-सेवा के नाम पर घरसे बाहर निकलनेवाली कुलाङ्गनाओं की गणना नायिका-विधान के भीतर करना, शास्त्रीय दृष्टि से चाहे ठीक भी माना जाय, पर नैतिक विचार से राष्ट्र की लज्जा का विषय है। अभिसारिका नायिकाओं की संख्या में भी दूनी वृद्धि हो गई। शास्त्रीय अभिसार के विचार से, कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष के कारण, कृष्णाभिसारिका या शुक्लाभिसारिका, दो नायिकाएँ मानी गई थीं। किन्तु विवेचन के इस युग में केवल दो से काव्य का काम न चला, दिवसाभिसारिका नाम से इस ढङ्ग की तीसरी नायिका निकली। यह भी सन्तोष करने की बात न

थी। सुकुमार तथा भावुक कवियों ने स्वप्नाभिसारिका के अस्तित्व को भी स्वीकृत कर लिया।

पुरुष ने स्त्री को सदा अपनी भावनाओं के अनुकूल ही देखा है। एक 'स्त्री' शब्द ही ऐसा है, जो अपनी मूल अर्थ-स्थिति में है; अन्यथा इसके जितने भी काव्योपयुक्त पर्याय या समानार्थक शब्द हैं, सब पुरुष की भिन्न-भिन्न भावनाओं के द्योतक हैं। पुरुष की सौंदर्य-लिप्सा ने स्त्री को सुन्दरी, रमण-प्रवृत्ति ने रमणी, कामना ने कामिनी, प्रेम ने प्रिया, प्रेमिका या प्रणयिनी, विलास ने विलासिनी और इस प्रकार अनेक प्रवृत्तियों ने उसके अनेक रूप दिये हैं। इन सब शृङ्गारिक रूपों के अतिरिक्त, गम्भीर काव्यों में, उसकी गम्भीर प्रकृति का विधान भी धर्मसंगिनी, जाया, महिला, देवी, गृहिणी, आर्या आदि के रूप में किया गया है। लेकिन शृङ्गारिक कवियों के भीतर स्त्री के इन रूपों को देखने की न क्षमता थी और न ऐसी महत् बुद्धि ही। शृङ्गारिक कवियों ने इतने से ही स्त्री का पिण्ड न छोड़ा। स्त्री के अङ्ग-विशेष या क्रिया-विशेष के ऊपर भी उसका नामकरण किया। सुनयना, सुलोचना, मृगाक्षी, चन्द्रवदनी, कृशोदरी, नितम्बिनी, सुकेशिनी आदि नाम अङ्ग - विशेष के और गजगामिनी, मृदुभाषिणी,-सुहासिनी आदि नाम उसके क्रिया-विशेष के निर्देशक हुए। स्त्री के उसी गुण या धर्म के उपलक्ष्य पर नामकरण किया गया, जो पुरुष की ऐन्द्रिक तृप्ति का साधन है। शोभन दृष्टि, चकित चितवन, वङ्किम कटाक्ष तत्काल ही चित्त पर प्रभाव डालते हैं, मीठी बोली तुरत मन को मोह लेती है। ऐसे गुण या धर्म जो स्त्री

पुरुष की मनोवृत्ति में स्त्री का रूप

की आन्तरिक भावना या चेष्टा को बताते हैं, हाव के अतिरिक्त ध्यान में नहीं लाए गए। स्त्री की लज्जा, संकोच, भीरुता आदि ने भी पुरुष का काफी मनोविनोद किया, इसलिये साहित्य-शास्त्र से अनुमोदित होकर ऐसे गुण-धर्म काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पा गए। नायिका की 'नाहीं' में भी कवियों को अपूर्व स्वाद मिला। पुरुष ने स्त्री के जिस रूप में, जिस भाव में, और जिस चेष्टा में अपना मनोरञ्जन नहीं पाया, उसका वर्णन काव्य में कदाचित् ही हुआ। जीवन की गम्भीर समस्याओं से उदासीन रहने के कारण, शृङ्गारिक कवियों की रचना में वस्तु या भाव-गाम्भीर्य नहीं आ पाया। प्रणय-पक्ष के जितने भी सम्भावित स्वरूप हो सकते हैं, उनका ही रमणीय वर्णन किया गया। जीवन को इसी दृष्टिकोण से देखनेवाले मनमौजी रसिकों के लिये देव कवि ने 'अष्टयाम' रचकर—अपनी दिनचर्या बनाने की चिन्ता से भी उन्हें मुक्त कर दिया।

वियोग का भार

वियोग का भार स्त्रियों के ऊपर जितना लादा गया, उतना पुरुषों पर नहीं। कालिदास के यक्ष तथा अज ने इस भार को, प्रेम के गुरुत्व के कारण, अवश्य उठाया, किन्तु परवर्ती काव्यों में यही प्रवृत्ति नहीं रही। स्त्री-प्रकृति में, जीवन के दुःख को एकनिष्ठ रहकर सहन करने की जितनी क्षमता रहती है, उतनी पुरुष में नहीं। विरह की असह्य वेदना, स्त्रियों के ही शिर पर मढ़ी गई और उस भार को उन्होंने बहुत गौरव के साथ ढोया भी, क्योंकि इससे उनका कुछ अपमान तो होता नहीं, प्रत्युत् अपने सम्बन्ध की उनकी विशेषता ही झलकती है। हृदय का हृदय के साथ, मन का मन के साथ जो

सम्बन्ध है, वही प्रेम या अनुराग है। इसमें यदि एकनिष्ठा नहीं रही, तो वह हृदय को शान्त नहीं कर सकता। एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे को प्राप्त करने की चिन्ता हो सकती है, लेकिन चिन्ता विरह नहीं है। चिन्ता का समाधान प्रकारान्तर से किया जा सकता है, पर विरह एक विशिष्ट प्रकार है। साधारण दुःख भी जीवन में विरह के दुःख से भिन्न होता है। सामान्य दुःख से छुटकारा पाने की जैसी इच्छा होती है, वैसी विरह-दुःख से नहीं। यदि ऐसा विरह-दुःख समाज-ग्राह्य न रहा, तो स्त्री की मर्यादा के विचार से वह काव्य में समादरणीय हो जाता है। जो प्रेम चित्त की गम्भीर वृत्ति से सम्बन्ध नहीं रखता, वह विरह भी उत्पन्न नहीं कर सकता। उससे केवल व्यभिचार की प्रेरणा मिलती रहती है। प्रेम में व्यभिचार को शान्त रखने की क्षमता होती है और यही उसकी सच्ची कसौटी है।

प्रकृति-वर्णन का रूप

निरपेक्ष प्रकृति-वर्णन की प्रवृत्ति हिन्दी-कवियों में नहीं रही। प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के रूप में रखकर, उसके स्वरूप को बहुत संकुचित कर दिया गया। संस्कृत की तरह हिन्दी-कवियों ने उसके आलम्बनत्व का निर्वाह नहीं किया। प्रकृति का भी अपना एक स्वतन्त्र रूप है, इस प्रवृत्ति का सम्मान कवि-समाज ने नहीं किया। जीवन-सापेक्ष्य प्रकृति-वर्णन की प्रकृति ने सुख-विलास तथा इन्द्रिय-रञ्जन के भाव को बड़ा अवलम्ब दिया। सुखकर भावों को उद्दीप्त करने के लिये प्रकृति के भिन्न रूपों से जितना काम लिया गया, दुख के सम्बन्ध के लिये उतना क्या, प्रायः कुछ नहीं किया गया। वियोग-वर्णन के रूप में प्रकृति का उल्लेख

करना रति-भाव के पोषण-स्वरूप ही होता है। रति-भाव के पोषण के लिये प्रकृति को पूरा पणबन्ध ही दे दिया गया। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप-व्यापार को अपने जीवन-पक्ष के साथ एकरस देखना, भाव-मग्न अन्तःकरण की विशेषता है; किन्तु ऐसी मनः-स्थिति जीवन में सदैव नहीं रहती। जीवन के ऐसे किसी क्षण की प्रतीक्षा करने का धैर्य भी हिन्दी-कवियों को नहीं था। इसी कारण जीवन के व्यापक रूप को देखने का उत्साह उनमें न था! 'रेकॉर्ड' के जिस अंश पर सूई आने से उनके शृङ्गारिक जीवन का स्वर बजता था, उसी पर बार-बार सुइयाँ चढ़ाकर विलासिता की उमंगें खूब जगाई गईं। जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य उपे-क्षित कर दिया गया और उसमें केवल गतानुगतिकता ही शेष रही। लगभग तीन सौ वर्षों का हिन्दी-काव्य, प्रगति के विचार से, मन्थर हो गया। उसमें जीवन का नवीन संस्कार उत्पादित नहीं किया जा सका और अपनी सीमा के भीतर ही सूक्ष्म विवे-चन की हद कर दी गई।

साधारणतः, भावों की क्रिया-प्रतिक्रिया, दो हृदयों के पारस्प-रिक व्यवहार से ही उत्पन्न होती है। जड़ पदार्थों के प्रति भी

भावों की क्रिया-प्रतिक्रिया

हृदय में भाव उत्पन्न होता है, पर यह सरल तथा एकपक्षीय रहता है, जटिल तथा प्रतिक्रियात्मक नहीं। सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, पहाड़, वन, उपवन, वर्षागम आदि प्राकृतिक दृश्यों को देखकर चित्त में आह्लाद होता है, परन्तु उससे किसी जटिल भाव की उत्पत्ति नहीं होती। जब हृदय में जटिल भाव उत्पन्न होते हैं, तब स्वयं द्रष्टा ही दृश्य बन जाता है, कम-से-कम कुछ अंशों में ही वह अवश्य दृश्य बन

जाता है। भयंकर घाटी, भीषण तूफान, भयंकर बाढ़ आदि को देखकर मनुष्य के चित्त में भय होता है और यह भाव शुभिचक की तरह जटिल मनोविकार के रूप में रहता है। यह जटिलता उसी स्थिति में उत्पन्न होती है, जब मनुष्य किसी भीषण प्राकृतिक दृश्य में प्रत्यक्ष चेतनता का आरोप कर बैठता है। विविध विराट इस प्रकार ही सरल मनोविकार जटिल हो जाता है।

सूक्ष्म के गोचर-विधान का कारण

काव्य में अपनी भावना की सूक्ष्मता को अधिक प्रभाव-व्यंजक बनाने के विचार से उसके गोचर रूप का विधान किया जाता है। भाव के इन्द्रिय-ग्राह्य प्रत्यक्षीकरण में सजीवता लक्षित होती है। प्रत्येक जाति के धर्म में शक्तियों की मूर्त्त कल्पना होती है। काव्य में सूक्ष्म का यह मूर्त्त-विधान इसी कारण प्रचलित हो गया है। इससे भाव की क्रियाशीलता का प्रत्यक्ष-सा बोध होता है और चित्त पर उसके सारे संस्कार अङ्कित हो जाते हैं। प्रबन्ध या मुक्तक काव्य में जहाँ भाव की समस्त प्रकृति का मूर्त्त-विधान सम्भव नहीं रहता, वहाँ उसकी किसी एक वृत्ति का ही प्रत्यक्षीकरण कर दिया जाता है। भाव के अङ्गरूप वृत्ति की गोचरता से समस्त अङ्गों की प्राण-प्रतिष्ठा मान ली जाती है। संस्कृत काव्यों में, स्थल-विशेष पर, प्रसङ्गानुसार सूक्ष्म का मूर्त्त-विधान बहुत मिलता है। कृष्ण मिश्र ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' रूपक लिखकर, इस शैली की काव्य-परम्परा का सूत्रपात कर दिया[1]। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'भारत-दुर्दशा'

---

१. अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान करनेवाली शैली का संकेत उपनिषदों में मिलता है। प्रबोध-चन्द्रोदय—नाटक की रचना की प्रेरणा उसी आख्यायिका से मिली है, जो बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्गीथ ब्राह्मण (१, ३) में सविस्तर

तथा 'भारत-जननी' नाटकों में दुर्दैव, भाग्य, आलस्य, सत्यानाश, निर्लज्जता, आशा, धैर्य आदि की पात्र-कल्पनाएँ की हैं। जयशङ्कर 'प्रसाद' ने 'कामना' में और सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना' में ऐसे ही कितने अमूर्त्त का मूर्त्त-विधान किया है। 'प्रसाद' के 'कामायिनी' महाकाव्य को भी सूक्ष्म वैदिक कल्पना का ही गोचर आधार प्राप्त हुआ है।

भावों की वृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण, रस-पद्धति के अनुभावों में, अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। मन और शरीर, दोनों के सम्बन्ध से इसका रहस्य बहुत-कुछ जाना जा सकता है। मानसिक तथा शारीरिक, दोनों तरह के विकार एक-दूसरे से सङ्गति रखते हैं। शरीर-विज्ञान के विवेचन में मनोविज्ञान के मूल का प्रतिपादन किया जा सकता है और उसके आध्यात्मिक रहस्य का भी उद्घाटन हो सकता है। प्रत्येक भाव का संस्कार बीज-रूप से मनुष्य के चित्त पर अङ्कित रहता है। अनुकूल सम्वेदन से वह संस्कार जागरित होकर वृत्ति-चक्र की तरह अपने सजातीय संस्कारों को भी प्रबुद्ध करने लगता है। इस प्रकार स्थायी भाव के अनुकूल सञ्चारी भाव उत्थित होकर शरीर-चेष्टा के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। यह सब क्रिया चित्त के सत्व-गुण-प्रधान अवस्था में ही होती है,

शरीर-विज्ञान और रस-पद्धति

वर्णित है। छान्दोग्य उपनिषद् (१, २) में भी इस आख्यायिका का समावेश है। मानव-हृदय में दो प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं--पुण्य तथा परमार्थ और पाप तथा स्वार्थ। ये वृत्तियाँ इन्द्रियों से उत्पन्न हैं, इसलिये इन्द्रिय को देव और असुर दोनों कहा गया है। गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी तथा आसुरी सम्पद् के नाम पर ऐसी अनेक वृत्तियों का उल्लेख किया गया है।

क्योंकि सत्त्वोद्रेक ही रस है। शरीर-विज्ञान के अनुसार किसी बाह्य घटना, दृश्य आदि का जो प्रभाव चित्त पर अंकित होता है उसका प्रभाव वायु-कोष—फुफ्फुस—पर पड़ता है और तदनुसार ही रक्त-सञ्चालन की गति तीव्र या मन्द हो जाती है। रति-भाव में जहाँ रक्ताधिक्य होता है, वहाँ भय में रक्ताभाव। दोनों के परिणाम मुखाकृति पर स्पष्ट लक्षित होते हैं। रक्ताधिक्य तथा रक्ताभाव, दोनों ही स्थितियों में रक्त-विकार के रूप में पसीना निकलता है[1]। रति, क्रोध, शोक, भय आदि के कारण मनोवेग की तीव्रता से रक्त-सञ्चालन की साधारण गति में जो व्यवधान होता है, उससे प्रस्वेद निकलने लगता है। चित्त और शरीर की इसी प्रकृति का विधान साहित्य-शास्त्र में रस-निरूपण के नाम पर है। सात्त्विक प्रस्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, अश्रु, वेपथु आदि के तत्त्व इसी प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार देखा जाता है कि शरीर की अवस्था के अनुसार

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् (६, २, ३) में प्रस्वेद के आध्यात्मिक कारण का उल्लेख किया गया है—

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत॥
तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते।

—उसने इच्छा की, 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।' इस प्रकार उसने तेज उत्पन्न किया। फिर तेज ने इच्छा की, 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।' तब तेज ने जल की रचना की। इसी कारण जब कभी मनुष्य तेज के कारण तीव्र मनोवेग धारण करता है, तब उसे पसीना हो आता है। तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है। बाह्य रूप से भी सूर्य या अग्नि के तेज से पसीना हो आता है।

मन भी चलता है। शारीरिक कष्ट का अनुभव मानसिक ही होता है। अतः शरीर के साथ मन का सम्बन्ध घनिष्ट ही बना रहता है। सञ्चारी भाव के आलस्य, निद्रा, व्याधि आदि की मूल प्रक्रिया में शरीर-प्रकृति को भुलाया नहीं जा सकता। शरीर तथा चित्त के गुरुत्व से जब उसकी प्रवृत्ति का अभाव-सा मालूम होता है, तब आलस्य का अनुभव होने लगता है। कफ के प्रकोप से शरीर और तमोगुण के आधिक्य से चित्त की ऐसी स्थिति हो जाती है। धातु-रसकरण के वैषम्य का नाम व्याधि है। मानव-शरीर में तीन प्रधान धातु—वात, पित्त तथा कफ—हैं। इनका न्यूनाधिक्य होना ही धातु-वैषम्य है; भोजन किये हुए अन्न-जल का सम्यक् परिपाक न होना रस-वैषम्य है और ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का मन्द होना करण-वैषम्य है। यही वैषम्य व्याधि है। जिस समय बुद्धिनिष्ठ सत्व और रजोगुण को तिरस्कृतकर तमोगुण के आविर्भाव से मानव की सारी इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, उस समय ज्ञानेन्द्रियों की सक्रियता के अभाव में, बुद्धि का विषयाकार परिणाम न होने से चित्त की जो तमोगुण-प्रधान वृत्ति है, उसे ही निद्रा कहते हैं[1]। चित्त तथा शरीर की प्रकृति के अनेक रूपों और

चित्त और शरीर तथा सञ्चारी भाव

---

१. नैयायिक निद्रा को वृत्ति रूप न मानकर केवल ज्ञानभाव मानते हैं, किन्तु योगवादी उसे चित्त की वृत्ति ही मानते हैं—

'अभाव प्रत्ययाऽलंबन वृत्तिर्निद्रा' (पातञ्जल योग-दर्शन, १, १०

—क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सुषुप्ति के बाद मनुष्य के ज्ञान में क्रम भङ्ग होता और 'मैं अच्छी तरह सोया' यह ज्ञान जब रहता ही तब उ ज्ञानाभाव कहना उचित नहीं जँचता।

स्थितियों के अनुसार ही जीवन के तत्त्व हैं और इन्हीं तत्त्वों का विनियोग काव्य-साहित्य में सिद्धान्त के नाम पर कर दिया जाता है।

मनोविकार और अश्रु

जब कभी हम किसी घटना का वर्णन सुनते या ऐसा कोई अपूर्व दृश्य देखते जिससे हमारा पूर्व परिचय नहीं हुआ रहता, तब अकस्मात् आनन्द या विषाद के अतिरेक से, हमारे मनोविकार की प्रकृति के अनुकूल, शरीर की नसों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। हमें रोमाञ्च हो आता है, आँखों में आँसू छलछला आते हैं। अश्रु-प्रवर्षण भी तेज का ही प्रताप है। हर्ष का आधिक्य जब इस सीमा तक पहुँच जाता है कि हम अपनी साधारण स्थिति में उसको आत्मसात् नहीं कर सकते, तब उसके दुःखजनक अतिरेक से आँसू निकल आते हैं। हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाने पर भी आँखें छलछला जाती हैं। जितने आनन्द का भार हम सँभाल सकते हैं, उतने से अश्रु-विकार उत्पन्न नहीं होता। आनन्द के साथ-साथ विषाद में भी यह बात प्रायः उसी रूप में पाई जाती है। जितने दुःख को हम सँभाल सकते हैं, उतने से आँखों में कोई विकार स्पष्ट नहीं झलकता, किन्तु जो विषाद असह्य होता है, वह बरबस हमारे हृदय का मन्थन कर आँसू निकाल देता है। संस्कृत में इसी कारण, चक्षु—आँख—को वक्ता माना गया है। सुख या दुःख जब अत्यधिक हो जाता है, तब वाणी स्वतः मौन हो जाती है। वाणी के मूक होते ही आँखें बोलने लगती हैं। आँसू टपकाकर वाणी के द्वारा वर्णन न्यूनाधिक हो सकता है, पर भाव-निर्देश के लिये वाणी से मौन कहीं अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। इससे

वर्णन की अनिवर्चनीयता मानी जाती है। प्रवीण कलाकार अतिशय सुख या दुख के समय अपने पात्रों को मूक बना देते हैं।

मुक्तक रचनाओं में प्रसङ्ग की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता का निर्णय करना कठिन होता है। कहीं-कहीं केवल काव्य-रीति या

मुक्तक रचना और रस-प्रसङ्ग

रूढ़ि के सहारे ही अनुकूल परिस्थिति या घटना का आक्षेप करना पड़ता है। मन की रस-संग्राहिणी प्रवृत्ति ऐसी होती है, जो वर्णन के अनुकूल ही परिस्थिति का काल्पनिक विधान कर लेती है। बुद्धि के द्वारा जीवन के आह्लाद को ग्रहण करने की मनुष्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मधु-लोभी भौंरे की तरह पाठक वर्णन पर मँडराने लगते हैं और फिर रस-मग्न भी हो जाते हैं। रसमय प्रसङ्ग के वर्णन में इतना आकर्षण रहता है कि रसिक पाठकों की कल्पना-शक्ति को वह नियन्त्रित कर देता है, इधर-उधर दिशाच्युत नहीं होने देता। कल्पना के जैसे आक्षेप से, जैसे विधान से वर्णन की रमणीयता बढ़े, वैसी ही हमारी मनोवृत्ति हो जाती है। रस-लोभ की प्रवृत्ति भी ऐसी तीव्र होती है कि कभी-कभी असम्भव घटना को भी, थोड़ी देर के लिए ही सही, अपनी बुद्धि-वृत्ति की गौणता से,

रस-ग्रहण की मनोवृत्ति

सम्भव मानकर हम उसका रस-ग्रहण कर लेते हैं। मनस्तत्व का यह सर्वमान्य स्वरूप न होने पर भी वितर्क से उसकी उत्पत्ति कर ली जाती है। यदि ऐसी प्रवृत्ति न हो तो हाथ आयी चिड़िया उड़ जाती है। काव्य और सूक्ति का भेद ऐसे ही प्रसंग पर स्पष्ट होता है। काव्य में रस प्रधान रहता है और सूक्ति में चमत्कार। किसी वर्णन को पढ़कर जब हम साधारणतः 'आह !' कह उठते हैं, तब

वह काव्य-संयुक्त होता है और जब 'वाह !' कहते हैं तब वह चमत्कार-प्रधान रहता है। चमत्कार-प्रकाशन के समय, हृदय की वृत्तियाँ गम्भीर नहीं, छिछली रहती हैं। ऐसी वृत्तियों से रसोद्रेक नहीं होता। अच्छी या अनूठी उक्तियों से अधिक मनोरञ्जन भले ही हो जाय, पर वे हृदय को निमग्न नहीं कर सकतीं।

मानव-प्रकृति और राष्ट्र-निर्माण

मानव-प्रकृति की विलक्षणता यह है कि वह अपनी जाति, संस्कृति, सभ्यता, सुख-दुख, सम्पत्ति-विपत्ति, सुविधा-असुविधा, भाव-विचार के रूप में अपने स्वार्थ को किसी भू-भाग पर केन्द्रित कर देती है। जिसका स्वार्थ जितना ही संकीर्ण रहता, उसके राष्ट्र की परिधि भी उतनी ही संकीर्ण होती है और जो अपने स्वार्थ का जितनी दूर तक प्रसार कर सकता है, उसकी देश-भक्ति भी उसी सीमा तक क्रिया-तत्पर रहती है। स्वार्थ की यह परिधि कभी-कभी भौगोलिक सीमा को लाँघती हुई विश्व-बन्धुत्व या मानवतावाद में मिलकर सीमाहीन हो जाती है। राष्ट्र का यह रूप सर्वमान्य नहीं। मनुष्य अपनी या अपने जीवन-सम्पर्क में आए हुए व्यक्ति या समाज की जितनी चिन्ता या ममत्व रखता है, उतना दूसरों के लिए नहीं, जो उससे दूर या भिन्न हैं। राजनैतिक प्रेरणा या विग्रह के ऊपर बहुधा किसी राष्ट्र का उदय-प्रलय निर्भर करता है; किन्तु राजनीति के सारे कारणों को काव्य आत्मसात् नहीं कर सकता। काव्य में राष्ट्रीयता के वे ही उपकरण समाविष्ट किये जा सकते हैं, जिससे मानव-कल्याण की सम्भावना बनी रहती है। छल-प्रपञ्च, षड्यन्त्र-विग्रह को लेकर सामान्य लोक-जीवन में रसात्मक अनु-

भूति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी कारण काव्य औचित्य की सीमा से बाहर अपना चरण-प्रसार नहीं कर सकता।

राष्ट्रीयता की उद्भावना

राष्ट्रीयता की उद्भावना स्वतः नवीन दृष्टिकोण की उपज है। प्राचीन या मध्य-काल में सात्मिक राष्ट्र की कल्पना भारत में नहीं हुई थी। अपने राज्य या साम्राज्य की विस्तार-परिधि तक ही राष्ट्र की सीमा मानी जाती थी, पर राष्ट्रीय चेतनता का जो स्वरूप आज लक्षित है, वह उस सीमा के अन्तर्गत उस समय प्राप्त न थी। समय-समय पर कुछ कवियों ने देश-भक्तिपरक रचनाएँ कीं और अपने आश्रय-दाता वीरों की विरुदावली भी गाईं, लेकिन राष्ट्रीयता के सारे उपकरणों से उनकी रचनाएँ समन्वित नहीं हो सकीं। अपने राज्य, प्रान्त या जातीय शक्ति की रक्षा, वृद्धि तथा महत्ता स्थापित करने के लिए जो रचनाएँ हुईं और उनसे देश तथा जाति को जो शक्ति प्राप्त हुई वे अपने अर्थ में सार्थक हैं। उनसे राष्ट्र का वृहत्तर कल्याण-साधन नहीं हो सका, उनका प्रयोजन भी इतना विशाल नहीं समझा गया।

राष्ट्रीय कविता की मनोवृत्ति

राष्ट्रीय कविताओं की अपनी एक विशेष मनोवृत्ति होती है। भावना तथा मनोवेग के अनुसार उसकी दिशाएँ बदलती रहती हैं। राष्ट्र के अतीत गौरव या महिमा की स्मृति पर जो मनोवेग टिका रहता है, वह गर्व या स्वाभिमान के रूप में फूट पड़ता है, अभाव या दीनता के बोध से वह करुणा या विलाप का रूप धारण करता है, उत्तेजना की स्थिति में वह उत्साह तथा दर्प को अभिव्यक्त करता है और यदि मनोवेग राष्ट्र की निष्क्रियता तथा कर्त्तव्य-विमुखता से प्रेरित

हुआ रहता है, तो वह प्रयोग और विचार के रूप में [illegible] है। राष्ट्र के अन्तर्गत हमारा जीवन-व्यापार, हमारी विभिन्न मनोवृत्तियों को ही मुखरित करता है। राष्ट्र की विभिन्नता का अनिवार्य ढंग से जिस कवि का हृदय किसी सहानुभूति का पात्र नहीं बन सकता, उसके लिए राष्ट्रीय कविताएँ कुछ अर्थ नहीं रखतीं। जो कवि राष्ट्र के अभ्युत्थान में [illegible] रखता है, जो राष्ट्रीय चेतना के साथ अपने हृदय का पूरा तादात्म्य रखता है, उसके लिए राष्ट्र का अस्तित्व है और वही राष्ट्रीय कविता रचने का अधिकारी भी है। युग-धर्म के अनुसार नाम-मात्र लिख देना ही पर्याप्त नहीं है।

राष्ट्रीय कविता की प्रकृति

काव्य-गीत की एक प्रवृत्ति राष्ट्रीयता-मूलक भी रही है, किन्तु उसकी उद्भावना बहुत पुरानी नहीं। जातीयता की सीमा के बाहर हमारी राष्ट्रीयता नहीं जा सकी थी और उसी सीमा के अन्तर्गत ही कुछ कवियों ने अपनी भारती का उपयोग किया। ज्यों-ज्यों हमारा परिचय एक-दूसरे से बढ़ता गया, सब समान सुख-दुख में सम्मिलित होते गये, त्यों-त्यों हमारी राष्ट्रीय भावनाएँ बृहत्तर होने लगीं। इस परिस्थिति में भी जो राष्ट्रीयतापरक रचनाएँ हुईं, उनमें मनोवेग की प्रबलता नहीं पायी जाती। उनमें बोध तो है, पर प्रतीति नहीं। विदेशी शासन ने जब देश-भक्ति तथा राज-भक्ति को पृथक्-पृथक् भावनाओं के रूप में उपस्थित कर दिया, तब भी हमारे कवि दोनों विजातीय भावनाओं को प्रायः एक ही स्वर से अभिव्यक्त करते रहे। अपनी करुणाजनक दीनता पर दुख प्रकट करते हुए वे नये शासन से उत्पन्न सुख-सन्तोष का

उल्लेख कर देना भी उचित समझते थे। उस समय की परिस्थिति ही ऐसी कुछ थी। राष्ट्रीय भावना को पुरस्सर करनेवाली अन्तर्ज्वाला न जन-समाज में थी और न कवि-हृदय में। राष्ट्रीय जागृति के उत्थान के साथ-साथ देश का वायुमण्डल भी बदलने लगा। जनता में राष्ट्रीय रचनाओं को सुनने-सुनाने की हिम्मत बढ़ने लगी, उत्साह भी आने लगा। आज इस परिवर्त्तित वायु-मण्डल में भी, कला-गीत में राष्ट्रीय प्रवृत्ति ने कोई विशेष उल्लेखनीय स्थान नहीं प्राप्त किया है। कुछ उत्साही कवियों ने अपनी वाणीविभूति का उपयोग राष्ट्रीयता के सम्वर्द्धन में अवश्य किया है, किन्तु उनमें से अधिकांश स्थिति-पालकता का विचार रखनेवाले ही हैं, नव जागरण का शंख फूँककर जनता को उन्मत्त करनेवाले नहीं। यह अवस्था आरम्भ की है, भविष्य में कला-गीत की इस प्रवृत्ति के उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करने की सम्भावना नष्ट नहीं समझी जा सकती।

छायावाद के आविर्भाव के पहले भी इतिवृत्तात्मक ढङ्ग की रचनाओं से आगे बढ़कर मार्मिक विषयों की ओर कला-गीत की प्रगति शुरू हो गयी थी। बाह्यार्थ-निरूपण की परिपाटी को छोड़ते हुये स्वानुभूतिमूलक कविताओं में भावना-विस्तार के आगे रहस्यमय संकेत भी मिलने लगे थे। छायावाद ने कल्पना का पुट देकर काव्य-शैली की व्यञ्जकता बहुत बढ़ाई। नये ढङ्ग के लाक्षणिक प्रयोग, जिनसे हिन्दी-पाठक परिचित नहीं थे, भाषा की व्यञ्जक शक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ नई सूझ का आतंक भी पैदा करने लगे। इति-वृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया-जैसी छायावादी कविताएँ रची जाने

छायावाद का आविर्भाव

स्पष्ट है कि एक से दूसरे 'वाद' में भिन्नता की कोई निश्चित सीमा नहीं रखी गई। इतिवृत्तात्मक तथा वाह्यार्थ-निरूपक

छायावाद, रहस्यवाद और हृदयवाद

कविताओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप जो भावनात्मक तथा अन्तर्वृत्ति-मूलक कविताएँ रची गई वे द्विवेदीयुग की कविताओं से भाव, विचार, शैली, सब तरह से भिन्न रहीं। हृदयवाद का तथ्य अनुभूति-मूलक है और इससे किसी ढङ्ग की कविता, यदि वह सच्चे अर्थ में कविता ही है तो, अलग रह भी नहीं सकती। छायावाद और रहस्यवाद का अन्तर अब तक भी स्पष्ट नहीं हो सका है और इस युग में ऐसा होना सम्भव भी नहीं। भावात्मक तथा साधनात्मक रहस्यवाद का युग कब न उतर गया। यदि छायावाद ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantasmata) और आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर है और रहस्यवाद वेदान्तिकों के अद्वैतवाद का सगुणपरक उपासनामूलक द्वैतवाद या अंगरेजी काव्य-जगत् के एक अंश में प्रवर्त्तित (Mysticism) काव्य-रूप है तो इन सबका सम्यक् निर्वाह किसी सम्प्रदाय में ही सम्भव है। वे काव्य की सामान्य परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते। जीवन में सम्प्रदायगत जो भावनाएँ हैं, वे समस्त काव्य-जगत् को आच्छन्न नहीं कर सकतीं। हिन्दी कला-गीत के इतिहास पर समीक्षात्मक दृष्टि डालने से साधारणतः यही पता लगता है कि वस्तुवादी या वर्णनात्मक ढङ्ग की कविताओं में स्पष्टता का रूप जो लक्षित होता था, उसमें भावना तथा कल्पना के विस्तार का विशेष अवकाश न था, यथातथ्य वस्तु का वर्णन कर दिया जाता था। छायावाद के रूप में तथ्य को अस्पष्ट रख दिया दिया जाता है

छायावाद में कल्पना-तत्त्व

रहस्यवाद में प्रणय-भावना

और कल्पना को दौड़ लगाने के लिए बड़ी छूट मिल जाती है। रहस्यवाद में अव्यक्त और अज्ञेय को व्यक्त तथा ज्ञान-रूप में वर्णित कर उसे हृदय का देवता बनाया जाता है। ब्रह्म और जीव दोनों के मिलन-व्यापार, वचन-वक्रता तथा कल्पना के वैचित्र्य से दिखलाये जाते हैं। यदि वस्तु-स्थिति इतनी ही दूर तक रहे तो ज्यादा घबड़ाने की बात नहीं। ब्रह्म और जीव के उपलक्ष्य पर लौकिक वासनामूलक कविताएँ, अधिकतर रहस्यवाद के नाम पर, काव्य-जगत् में प्रकाशित हुईं। अपनी लौकिक प्रणय-भावना को रहस्यवादी कविता के रूप में लाने की बात को कुछ कवियों ने मौन रहकर, निरुत्तर होकर, स्वीकृत भी किया है। जो सच्चे अर्थ में रहस्यवादी कवि हैं, जिन्हें वैसी दुर्लभ अनुभूति प्राप्त है, उनकी बात मैं नहीं कहता। रहस्यवाद या छायावाद को काव्य का सामान्य लक्षण न मानते हुए, एक विभाग-विशेष के रूप में जो कवि इस ढङ्ग की कविताएँ रचते हैं, उनसे काव्य का कल्याण ही सम्भव है, अहित नहीं। छायावाद या रहस्यवाद के नाम पर वाग्जाल फैलाकर पाठकों को व्यर्थ भ्रम में डालना, चाहे नैतिक दृष्टि से बुरा न भी माना जाय, पर अपनी आत्मा-प्रवञ्चना के विचार से निस्सन्देह पाप है।

कला-गीत स्वभावत: ही पम्परामुक्त होता है। एक परिपाटी को तोड़कर नये क्षेत्र में आते ही उसपर दूसरा भूत सवार हो जाता है। रीतिकाल के अभिसार, नायक-नायिका, हाव-भाव आदि के ऐंद्रिक सुख-विलास की रमणीय कल्पनाओं से पिण्ड

छूटा, और यों ही नहीं, आन्दोलनात्मक क्रान्ति की पुकार मचाकर, तो फिर आध्यात्मिक आवरण के भीतर अज्ञात नायक-नायिका की मौन प्रणय-वासना दबे पाँव आकर अपने पूर्व संस्कारों के साथ उसी गढ़े में जा धँसी। कुछ समय तक कवियों ने अपने काव्य में निर्देश या उपलक्षण को ही महत्त्व दिया, मुख्य अभिधान या अर्थ-बोध पर उनकी दृष्टि नहीं गई। काव्य के आध्यात्मिक अर्थ पर जितना ध्यान दिया गया, उतना हृदय के भावों की संगति पर नहीं। गंभीर भावों की अभिव्यक्ति भी काव्य में अप्रत्यक्ष रूप से ही होती रही। हृत्तंत्री की नीरव झङ्कार, अनन्त प्रतीक्षा, मद में झूमना, सूक्ष्म अभिसार, प्रियतम का दबे-पाँव आना आदि जैसी चित्रमयी भाषा में रञ्जित होकर उसी दल-दल में जा फँसे। ऐसी कविताओं ने हृदय के ज्ञात पक्ष की तो उपेक्षा की ही, अज्ञेय के रहस्य में लिपटाकर बुद्धि को बड़ा परेशान किया। इस ढङ्ग की काव्य-प्रणाली से भाषा में लाक्षणिक वक्रता की कुछ विशेषता अवश्य आ गई। कभी-कभी लाक्षणिक प्रयोगों से मन की अव्यक्त भावनाओं का बहुत ही रमणीय चित्र उपस्थित किया जा सकता है। कुछ कृतविद्य कवियों ने इस दिशा में अच्छा काम किया है, परन्तु भाषा की बलात् अर्थ-व्यक्ति का अनाचार भी खूब बढ़ा। भाषा की अर्जित शक्ति से अधिक अर्थ भाँपने पर जोर देने के कारण, उसकी शिथिलता ही बढ़ी। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य में जब-जब बँधी हुई प्रणालियों से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के विविध पक्षों की मार्मिकता दिखाने की प्रवृत्ति अग्रसर हुई, तब-तब वह कुछ दूर

कला-गीत की रूढ़ि-प्रियता

जाती है। कविता का सामान्य शीर्षक—'गीत' रख देने से ही वस्तुतः गीत या वैणिक (लीरिक) के गुणों से वह समन्वित नहीं हो जाती। कुछ कृतविद्य कवियों में गीत रचने की स्वाभाविक प्रतिभा है और उसको अपनी भावना के अनुभूतिजन्य आवेग को अखण्ड रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता भी है; किन्तु आज जिस परिमाण में गीत प्रकाशित हो रहे हैं, वे जीवन की मार्मिकता को अपने साथ-साथ ढो नहीं सकते। गीत जिस प्रकार आवेग-प्रधान भावना का एक खण्ड है, उसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति भी अखण्ड होती है। अप्रस्तुत-विधान उसके आवेग की एक-सूत्रता को खण्डित नहीं कर सकता। कवि के हृदय की अन्तर्ज्वाला, किसी वाह्य प्रेरणा से प्रभावित होकर, उसके सारे अन्तर्वाह्य को एक साथ ही अभिव्यक्त कर देती है। उसमें स्वभावतः ही लय-छंद को अनुकूल गति प्राप्त हो जाती है। सोच-समझ, अध्यवसाय के साथ, किसी गीत की रचना नहीं होती। वह एक मनोवेग की रचना है। कवि के अंतस् में जो भावना घनीभूत हुई रहती है, वह प्रेरणा संकेत पाते ही वाहर निकल पड़ती है—उसके सारे अंतस् को उद्भासित कर देती है। अधिकांश गीत जो अभी हमारे सामने आ रहे हैं, उनमें शीर्षक के अतिरिक्त ऐसी कोई विशेषता नहीं मिलती। गीतों की रचना-प्रकृति की विशेषता जबतक उनमें लक्षित नहीं होती, तबतक अंधे को नयन-सुख कैसे मिल सकता है! कृष्णभक्त कवियों में गीतिकार की हार्दिकता तथा मार्मिकता का जो तत्त्व था, वह आजकल के गीतिकारों में लक्षित नहीं होता। 'प्रीति करि—

गीत-शैली का प्रचलन

गीत-शैली की रचना-प्रकृति

बिना चरम सीमा पर पहुँचाये उसकी प्रवृत्तियों से लाभ उठाया जाय, तो जीवन और काव्य के लिये हितकर ही होता है, किन्तु जीवन और काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों के रूप में इनका उपयोग करना प्रायः उसी सीमा पर पहुँचना है, जहाँ से प्रत्यावर्त्तन की अपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार जीवन या काव्य कुछ स्थायित्व लेकर, घड़ी के पेंडुलम की तरह, कभी इस दिशा से उस दिशा और उस दिशा से इस दिशा की ओर जाता-आता रहता है। इससे समय और शक्ति का अनावश्यक ह्रास तो होता ही है, जीवन या काव्य भी प्रायः एकांगदर्शी हो जाता है।

प्रगति का स्वरूप

प्राचीन काव्य में समाज के विशिष्ट वर्ग को जो सम्माननीय स्थान प्राप्त हुआ था, वह निम्न वर्ग को नहीं। राजा-रानी, विद्वान्-पण्डित, शूर-वीर के चरित्र-चित्रण को आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण ही काव्य में प्रतिष्ठा मिली थी। समाज के इस वर्ग के प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में सामान्य जनता के भाव-विचार आज की तरह संकीर्ण नहीं थे। ऐसे आदर्श पात्रों की काव्यगत प्रतिष्ठा से रस-परिपाक में भी विशेष सहायता मिलती थी। 'राजा' शब्द ही शील, शक्ति, सौंदर्य, ऐश्वर्य, धीरोदात्तता, परदुखकातरता आदि गुणों का प्रतीक माना जाता था। राजा को ईश्वर का अंश मानने की भावना भी शास्त्रानुमोदित थी। किन्तु, ज्यों-ज्यों जीवन में परिवर्त्तन-पर-परिवर्त्तन आने लगे, समाज में जिस आदर्श को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी, उसमें कर्त्तव्य-बुद्धि नष्ट होने लगी और केवल अधिकार-भावना ही बचने लगी, त्यों-त्यों सामान्य जनता अपने आदर्श नायक में देवत्व का

आदर्श की प्रतिष्ठा

हास समझने लगी और सामान्य मानव-जीवन से वढ़कर उसमें और कोई विलक्षणता नहीं देखने लगी। जनता का वह नायक देव से मानव पर आया और जैसा कि लक्षणों से प्रतीत हो रहा है, वह मानव से भी नीचे उतर कर दानव तक आ सकता है। प्रजातन्त्र की वढ़ती हुई भावना ने राजतन्त्र को निःस्व वना दिया। जो दृष्टि आदर्शोन्मुख थी, वह यथार्थता पर आ टिकी। जीवन के इस महान परिवर्त्तन का प्रभाव काव्य पर पड़े विना नहीं रह सकता। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में नायक के जो विशेषण वर्णित किये गये थे, वे विशेषण तो वने रहे, किन्तु उनके अर्थ विपरीत मालूम होने लगे।

प्रगतिवाद में आदर्श का ह्रास

मानवता की इस विजय ने काव्य को कोई नयी दृष्टि नहीं दी। उसमें काव्य की सामग्री मानव-जीवन की विविधता ही रही है। उसमें ऊँच-नीच, राजा-रङ्क, विद्वान्-मूर्ख, सुन्दर-असुन्दर का कोई भेद नहीं। एक वृद्धा भिखारिणी का चित्र वनाते-वनाते यदि चित्रकार किसी युवती रानी का चित्र वना दे, तो वह सफल नहीं माना जा सकता। चित्रकार का साध्य वृद्धा भिखारिणी को ही चित्रित करना है, अपनी ओर से भिन्न-भिन्न रङ्गों की कूचियों से उसे रति-सुन्दरी वना देना नहीं। काव्य में किसान, मजदूर, भिखारी को भी वर्णन की दृष्टि से वही प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये, जो समाज के विशिष्ट वर्गों को अभी तक मिलती रही है। सद्गुणों का निवास केवल वड़ों में ही नहीं रहता, छोटे भी उनसे उद्दीप्त रहते हैं। एक भिखारिणी के हृदय में स्नेह, वात्सल्य, ममता आदि जो स्त्रियोचित गुण मिल

काव्य का लक्ष्य—मानवता

सकते हैं, वे प्रत्येक रानी में प्रायः नहीं मिलते। एक भूखा किसान उदारता, वीरता आदि गुणों से किसी आधुनिक राजा को भी पराजित कर सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य की दृष्टि से जीवन की सामान्य कही जानेवाली विभूतियों का चित्रण व्यर्थ नहीं हो सकता, बल्कि इससे काव्य की विशेषता ही प्रतिपादित होगी।

प्रगतिवाद और जन-साधारण की सतर्कता

प्रगतिवाद आदर्श से यथार्थ को ही विशेष महत्त्व देता है। समाज में विधवा तथा अछूत को जो हेय स्थान था, उसको बदलने की गुञ्जाइश अब हो गई है। धार्मिक रूढ़ियों तथा पाखण्डी धर्म-ध्वजियों के कारण जीवन का जो वातावरण इतना कलुषित हो गया था, अन्ध-विश्वास तथा परम्परा के नाम पर जो मलिनता आ गई थी, उसका परिमार्जन अब होने लगा है। समाज का कोई भी अङ्ग अपनी दीनता तथा हीनता के कारण ही हेय नहीं माना जा सकता। जीवन के विविध अङ्गों तथा रूपों को अपने भीतर समाविष्ट कर लेने में ही काव्य की सार्थकता है। काव्य का द्वार ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र, देव-दानव सबके लिए खुला है। उसमें इतनी ही पक्षपात-शून्यता की आवश्यकता है कि समाज के उच्च वर्ग ने काव्य पर जो एकाधिपत्य जमा रखा था, उसको हटाकर किसी दूसरे वर्ग को भी एकाधिपत्य न दिया जाय। जीवन की सामान्य गति-विधि के अनुसार काव्य में स्थान पाने की जो कोई उपयुक्त पात्रता रखता हो, उसका सम्मान होना चहिये। प्रतिक्रिया का द्वन्द्व यदि काव्य का लक्ष्य बनाया जायगा, तो स्थायी काव्य की सृष्टि सम्भव न होगी और कवियों को कवि की महत् संज्ञा न मिलकर प्रचारक का पद ही प्राप्त हो सकेगा।

मनुष्य-समाज के जो भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं, उनके अतिरिक्त काव्य में उन उपयोगी साधनों का भी उल्लेख होता आया है, जो हमारे बौद्धिक विकास तथा सभ्यता के परिचायक रहे हैं। काव्य में जहाँ राजा को स्थान मिला है, वहाँ उसके साथ वीणा, वेणु, रथ, मन्दिर, भवन आदि को भी समुचित स्थान प्राप्त हो गया है। किन्तु कृषक या श्रमिक को काव्य से अपदस्थ रखने के साथ-साथ उनके ढोल, झोपड़ी, बैल-गाड़ी तथा हँसिया-हथौड़ा को भी अलग रखना पड़ा। जीवन-निर्वाह के इन साधनों में मार्मिकता की कोई कमी नहीं, किन्तु काव्य की दृष्टि से इनमें अभी रसात्मकता की न्यूनता मालूम पड़ती है। यदि सामान्य जीवन को काव्य में प्रसङ्गानुकूल स्थिति प्राप्त हो जाय, तो ये साधन भी रस-ग्राह्य रूप प्राप्त कर ले सकेंगे। प्रत्येक देश का काव्य अपनी भूमि के मौलिक आधार को प्राप्त कर ही रसग्राह्य हो सकता है, हँसिया-हथौड़ा भारतीय कृषक-वर्ग के जीवन-निर्वाह के रूप में प्रधान साधन रहे हैं, किन्तु आज प्रगतिशील साहित्यवादियों को इन साधनों को काव्योपयुक्त बनाने की प्रेरणा अपने देश में नहीं मिली, वे इस प्रेरणा के लिए परावलम्बी हैं। भारत के नव जागरण ने भी चर्खा-धुनकी को राष्ट्रीयता का प्रतीक घोषित किया, किन्तु प्रगतिशीलवादी लेखक को किसी दीन कृषक विधवा के चर्खा कात कर अपने करुणापूर्ण जीवन-निर्वाह के चित्रण की अपेक्षा, किसी बड़ी फैक्टरी या मिल में मजदूरों के हथौड़ों से अग्नि के स्फुलिङ्ग निकालने में ही आनन्द आता है। जीवन के शाश्वत रूप

जीवन के साधनों की काव्यगत प्रतिष्ठा

राष्ट्रीय स्वरूप की रक्षा का महत्त्व

में जो काव्योपयुक्त रमणीयता रहती है, वह आजकल की वैज्ञानिक सभ्यता के कारण उठे हुए रूपों में नहीं। भों-भों करती हुई मोटर-कारों के चित्रण की अपेक्षा मन्दगति से टिक्-टिक् करती हुई, बैलगाड़ियों में ही भारत का स्वरूप देखा जा सकता है। सामान्य लोक-जीवन को काव्य का आधार बनाते समय भारतीय प्रकृति की रक्षा का विचार रखना भी उचित है। यदि स्वाभाविक रूप से जातीय तथा राष्ट्रीय जीवन में परिवर्त्तन या संशोधन करने की इच्छा हो, तो प्रभाव भी स्थायी हो सकता और काव्य की मर्यादा भी बनी रह जाती। आज से लगभग बीस वर्ष पहले, क्रान्ति की पुकार पर एक दिन रूसी साहित्य को भी साम्यवाद की सेवा में, अपने समस्त वैभव के साथ, उपस्थित होना पड़ा था। किन्तु इसका परिणाम, साम्यवाद के देशगत प्रचार की दृष्टि से, कुछ लाभप्रद भले ही हुआ हो, जगत् को इस अवधि के भीतर उसने कोई स्थायी साहित्य प्रदान नहीं किया।

स्थायी तथा सामयिक साहित्य का उपयोग

वैयक्तिक या सामाजिक जीवन की प्रत्येक अव्यवस्था का उपचार काव्य-द्वारा नहीं किया जा सकता। जीवन में जो-कुछ चिरन्तन है, जो कुछ स्थायी है, उसीके निर्वाह में काव्य का उपयोग उपयुक्त होता है। रूढ़ि-ग्रस्तता या सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिये सामयिक साहित्य का उपयोग किया जा सकता है। पर स्वस्थ जीवन की प्रकृति स्थायी साहित्य के अनुकूल होती है। इस प्रसङ्ग में यह न भूलना चाहिए कि प्रकृतिस्थ जीवन में रोग के कीटाणुओं की तरह ईर्ष्या-द्वेष, छल-प्रपञ्च, मद-मोह आदि के जो अनीतिमूलक भाव रहते हैं, वे वर्जनीय होनेपर भी चिरन्तन जीवन के सत्य हैं। इन स्थायी

कीटाणुओं के परिहार की चेष्टा स्थायी साहित्य-द्वारा होती रही है। जीवन में प्रतिक्षण क्रान्ति होती रहती है, किन्तु जो क्रान्ति किसी विशेष कारण से, जीवन के किसी विशेष काल में होती है, उसका अभीष्ट-साधन सामयिक साहित्य के द्वारा ही समुचित है, उसके लिये स्थायी साहित्य को व्यर्थ घसीट कर उसकी मर्यादा नष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

दसवाँ अध्याय

अन्तर्दर्शन

प्रस्तावना

जीवन और काव्य की तात्त्विक समीक्षा के बाद, उसका विनियोग भी आवश्यक है। कवि का आत्मभाव यदि उसके काव्य में सचाई के साथ अभिव्यक्त हुआ है, तो उसके काव्य में जीवन का आभास पाया जा सकता है। काव्य के अन्तर्वृत्ति-मूलक विश्लेषण से कवि के अन्तःकरण का पता चलता है, उसके हेतु और मनोभाव, लालसा और वासना, सबकी झलक मिल जाती है। इसके अभाव में हम उसके अभिप्राय को अच्छी तरह नहीं समझ सकते, उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई परिचय प्राप्त नहीं कर सकते। जीवन की कितनी ही वृत्तियाँ ऐसी हैं, जो अर्धचेतनावस्था में निस्सृत होती हैं और कवि की स्पष्ट चेतना से भी अलग रहकर उसकी प्रवृत्ति तथा कल्पना पर प्रभाव डालने की चेष्टा करती हैं।

मानव-जीवन एक गूढ़ विषय है, अतः उसके सम्बन्ध में कोई भी निर्णय सर्वथा विवाद-रहित नहीं माना जा सकता। काव्य में जिस सीमा तक कवि का आत्मभाव प्रकट हुआ रहता है, वस्तुतः समीक्षा का विषय जीवन का उतना ही अंश माना जाना

चाहिए। उससे अधिक की जिज्ञासा-मात्र हो सकती है, उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। 'कृत लोकं पुरुषोऽभिजायते'— अपने बनाये हुए संसार में ही पुरुष उत्पन्न होता है। कवि भी, यदि वह वस्तुतः कवि ही है, तो अपनी काव्य-कला से पृथक् उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। किसी भी व्यक्ति का शील और चरित्र उसके विचार तथा कर्म से भिन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में काव्य के रूप में कवि अपनी जैसी भावना व्यक्त करता है, उसीके अनुरूप उसके जीवन का दृष्टिकोण मानना पड़ेगा। किन्तु, इसके साथ ही यह भी सत्य है कि प्रत्येक कवि जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में कवि ही नहीं रहता। इसी कारण काव्य-कला की अन्तर्भूमि पर प्रतिष्ठित जीवन, कवि के सारे जीवन को अच्छी तरह आलोकित नहीं करता। उसके किसी अंश का परिचय प्राप्त कर ही विवेचन किया जा सकता है। इस अध्याय में अन्तर्दर्शन के रूप में हिन्दी के कुछ आधुनिक कवियों की समीक्षा, बहुत ही संक्षेप में, की गयी है। कवियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को, जो उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत प्रधान हैं, दिखलाने का प्रयत्न-मात्र किया गया है। इस प्रयत्न में किसी पूर्वाग्रह की प्रेरणा नहीं है। कवियों ने अपनी प्रतिभा तथा कौशल से समीक्षक की सहानुभूति को जिस सीमा तक अर्जित किया है, इसमें उसीका स्पष्टीकरण है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त स्वभावतः प्रबन्ध-काव्य के कवि हैं। गीति
काव्य के लिये जिस आत्म-साधना तथा स्वानुभूति की अपेक्षा
होती है, उसका अभाव तो उनमें नहीं माना जा सकता, किन्तु
उनकी प्रकृति में लोक-पक्ष को जो स्थान प्राप्त है, वह उनका व्यक्ति
को नहीं। मैथिलीशरण गुप्त एक वैष्णव कवि हैं, किन्तु महात्मा
गान्धी की तरह उदार वैष्णव नहीं। उनके कवि में वैष्णव की
साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता बनी हुई है और इसका प्रभाव भी उनकी
रचनाओं पर अत्यधिक पड़ा है। वे एक धर्म-प्राण जातीय कवि
हैं, राष्ट्रीय कवि की विशालता का समावेश अब तक उनके कवित्व
में पूर्णतः नहीं हो पाया है। भारत-भारती से लेकर साकेत,
यशोधरा, गुरुकुल, हिन्दू आदि मुख्य-मुख्य काव्य-ग्रन्थों में उनके
हिन्दुत्व की अन्तर्चेतना ही जगी है। मौलाना अलताफ हुसैन
हाली के मुसद्दसों ने ही उन्हें भारत-भारती लिखने की प्रेरणा दी।
इसी कारण हाली की नजर जिस हद तक पहुँची थी, उससे
अधिक वे अपनी दृष्टि का भी विस्तार नहीं कर सके। हाली ने
अपना विपय मुस्लिम समाज तक ही सीमित रखा, फिर वे भी
हिन्दू-समाज की परिधि से बाहर जाने की उदारता न दिखा
सके। अपनी सीमा में रहकर हिन्दू-राष्ट्र को उन्होंने जीवन की
जो स्फूर्ति दी, अपने भिन्न-भिन्न प्रबन्ध-काव्यों के द्वारा हिन्दू-
जीवन के जो रसात्मक स्वरूप उपस्थित किये, वे अपने क्षेत्र में
अतुलनीय हैं। हिन्दुत्व की गरिमा ने भारतवर्ष की अन्येतर
जातियों के प्रति उनके हृदय में कुछ कवित्व शेष न रखा। उनकी

समस्त रचनाओं में कुछ सौ-पचास पंक्तियाँ ही ऐसी निकाली जा सकती हैं, जिनके द्वारा वे उदार राष्ट्रीयता की झाँकी ले सके हैं।

मैथिलीशरण गुप्त में एक विशेपता है। युगधर्म के अनुकूल वे एक ग्रहणशील प्रकृति के कवि हैं। वह एक युग था, जब राष्ट्रीय नव जागरण में अद्भुत् विद्युत्-सञ्चार कर योग देनेवाली भारत-भारती में भी ब्रिटिश राज्य का अभिनन्दन था और उसके बाद भी अन्वय-व्यतिरेक से उसकी प्रशंसा चलती रही। अब एक दूसरा समय आया है। राष्ट्र ने अपने जीवन के पिछले अध्याय को पलट दिया और कवि ने भी अपने जीवन को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखना शुरू किया। गान्धी-सम्पर्क ने भारतीय जीवन में जो परिवर्त्तन उपस्थित किया, उसकी ध्वनि कवि की रचनाओं में भी सुनाई पड़ने लगी, किन्तु उस ध्वनि में अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता पूरी तरह नहीं आ पायी। राष्ट्रीय कवि के उपयुक्त भावना का विकास, शायद उनकी प्रकृति को कुछ अन्यथा-सा मालूम पड़ता है। उनके राष्ट्रीय दृष्टिकोण में काफी विस्तार का अवकाश है। हिन्दुत्व की अन्तर्ज्योति को निष्कम्प रखते हुए, राष्ट्रीयता के नाम पर, भावना-सूत्र को बढ़ा ले चलने की प्रवृत्ति उनमें आई है, पर प्राचीन वैष्णव-संस्कार तथा नवीन गान्धी-सम्पर्क के बीच उनकी जीवन-प्रकृति परस्पर द्वन्द्व ही करती रही है।

मैंने ऊपर संकेत किया कि मैथिलीशरण पुरातन वैष्णव-संस्कार के पोषक हैं और साथ ही युगधर्म के अनुसार ग्रहणशील प्रकृति भी रखते हैं। उन्होंने नवीन काव्य-प्रणाली का स्वागत किया और उसमें अपना सहयोग भी दिया, लेकिन यह सब इसलिये नहीं कि उनमें युगधर्म के पोषण या उसको अपने साथ ले चलने

की मौलिक प्रवृत्ति है, प्रत्युत यह उनकी समन्वयशील प्रकृति की स्थिति-पालकता है। रहस्यवाद की नवीन धारा ने भी उनको कुछ दूर तक प्रभावित किया, पर उनकी सगुणोपासना की भावना ने शायद उस परम तत्त्व में किसी रहस्य को नहीं देखा। आत्म-प्रवञ्चना की उस सीमा तक वे नहीं पहुँचे, जहाँ अभी बहुत से तथाकथित रहस्यवादी कवि पहुँचे हुए हैं। वे वस्तुतः व्यक्ति-साधना के कवि नहीं, लोक-साधना के कवि हैं। और ऐसे कवि किसी भी साहित्य को बड़े ही सौभाग्य से प्राप्त होते हैं। व्यक्त जीवन में व्यक्त सौन्दर्य को देखने की प्रवृत्ति उनमें इतनी स्वाभाविक है कि रहस्यवाद तथा गीति-काव्य से अधिक अपने प्रवन्ध-काव्यों में ही वे अपना आत्म-निरूपण कर सके हैं।

किसी ऐसे पात्र के सम्बन्ध में जिसकी धारणा जन-समाज में पहले से स्थिर रही है, कवि की स्वतन्त्रता बहुत-कुछ छिन जाती है। मेघनाद-वध में मधुसूदन दत्त ने लक्ष्मण के प्रति सञ्चित हमारी दृढ़ सहानुभूति को छीनकर मेघनाद को देने की चेष्टा की, पर इस कार्य में वे सर्वथा सफल न हो सके। उर्मिला के चरित्र के सम्बन्ध में रामायणकार ने जिस 'मौन' का अवलम्बन किया, उसका चाहे जो अथ हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि सर्वाङ्गपूर्ण उर्मिला शायद रामायण की प्रधान नायिका के त्याग, तेज, सतीत्व तथा कष्ट-ाहिष्णुता से उत्पादित हृदय के भाव में अधिक हिस्सा बँटा लेती। र्मिला को काव्य की उपेक्षिता समझकर उन्होंने उसकी अपेक्षा ़नी चाही, लेकिन उनके इस प्रयत्न में जितनी भावुकता थी, उतना म नहीं। उपेक्षिता उर्मिला की आँखों की राह, कवि ने अपने

हृदय की सारी सहानुभूति को वहा दिया, परन्तु उसको वे लोक-कल्याणी न बना सके। इसमें कवि की अनिच्छा और असमर्थता दोनों है। राम और सीता के प्रति कवि के हृदय में जो पूजा-भाव है, वह इतना कुछ गम्भीर है कि उसकी रक्षा के लिये उन्हें पक्षपात करते ही बना है[1]। उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र का सार-सर्वस्व सीता और राम ने खींच लिया है। कवि ने अपनी निरपेक्ष प्रकृति का परिचय न देकर उर्मिला के प्रति अपनी सञ्चित भाव-सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। जिस भावना ने उनको काव्य-प्रेरणा दी, उसने अन्त तक उनका साथ न दिया। इसी कारण कवि ने 'साकेत' में उर्मिला को प्रधान स्थान देने की भावुकता तो दिखाई, किन्तु उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा वे न कर सके। रामायणकार ने रामायण की जो रूपरेखा रखी और उसके भीतर उर्मिला को जितना स्थान दिया, उससे अधिक मैथिलीशरण गुप्त भी उसे न दे सके। रामायण के मौन को कवि ने अपने 'साकेत' में व्यक्त करना चाहा, किन्तु उस मौन में जो अर्थगर्भित तथा मार्मिक भाव-संकेत था, वह विदग्ध विलाप से भरी 'साकेत' की सैकड़ों भी पंक्तियाँ अभिव्यक्त न कर सकीं। 'साकेत' की उर्मिला जीती है,

---

१. इस अभियोग को स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने महात्मा गांधी को लिखे गये अपने एक पत्र में स्वीकृत भी किया था--"सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है, जो हाथी पर चढ़ते-चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिये मुझे उनसे डर लगा रहा है। वह अभ्यस्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है।"

पर जीवन के लिये नहीं, विलाप के लिये। उनके हृदय में उर्मिला के महत्त्व के लिये नहीं, केवल उसकी करुणा के लिये स्थान है। पाठक या श्रोता भी उर्मिला के लिये करुणाजन्य सहानुभूति के अतिरिक्त कुछ और प्रदर्शित नहीं कर सकते।

उर्मिला की तरह यशोधरा की विरह-वेदना ने भी कवि के मर्म को व्यथित किया है, किन्तु उसकी अन्तर्वेदना को भी लोकपक्ष में परिव्याप्त कराने में वे पूरे समर्थ नहीं हो सके। व्यक्तिगत जीवन के वेदना-दुख से ऊपर, लोक-कल्याण में प्रवृत्त होने पर, उर्मिला तथा यशोधरा के विषाद का जो महत्त्व होता, वह नहीं हो सका। उर्मिला के विषाद का मूल्य केवल लक्ष्मण ही आँकें, यशोधरा के आँसू केवल गौतम बुद्ध के उपलक्ष्य से ही निस्सृत हों, यह सत्य और स्वाभाविक तो है, पर केवल इतना ही होने से उनका विषाद लोक-दृष्टि में वन्दनीय नहीं माना जा सकता। किसी-किसी स्थल पर, जहाँ यशोधरा ने अपनी वेदना की सीमा से बाहर आकर अपनी दृष्टि का विस्तार किया है, वहाँ उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है।

जायँ सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से!
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझ से कहकर जाते!

यशोधरा को पति-वियोग का विषाद तो है, किन्तु इस विषाद को वह सह्य बना लेती, यदि गौतम चुपके से न जाकर, यशोधरा को जगाकर और उससे अनुमति लेकर जाते। इससे उस परित्यक्ता गृहिणी को सन्तोष होता और अपने पति को जन-

प्रभु दयाल हैं, लौट के मिलो,
न उनके कुटी-द्वार से हिलो।

उर्मिला के इस उद्गार ने उसके विषाद को त्यागमय बना दिया है। वह लक्ष्मण से इतना ही कहती है—

तुम व्रती रहो,
मैं सती रहूँ।

खड़ीबोली की इतिवृत्तात्मक कविता को अंग्रेजी तथा बंगला के ढङ्ग पर, अन्तर्भावव्यञ्जक बनाकर, मैथिलीशरण गुप्त ने उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यञ्जक चित्र-विन्यास तथा आध्यात्मिकता का पुट देने का काफी प्रयत्न किया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने कितनी ही गीति-काव्य के अनुरूप मुक्तक रचनाएँ भी कीं। ऐसी रचनाएँ उनकी प्रवृत्ति-विशेष के निदर्शन के लिये ही ली जा सकती हैं।

निकल रही है उर से आह!
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

× × ×

"तुम्हारी वीणा है अनमोल।
हे विराट! जिसके दो तूँबे,
हैं भूगोल - खगोल।
इसे बजाते हो तुम जब लौं,
नाचेंगे हम सब भी तब लौं,
चलने दो, न कहो कुछ कब लौं;

मृदु [illegible] कल्लोल।
[illegible] है अनमोल।"

मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी इस प्रतिभा का विशेष प्रसार, केवल मुक्तक रचनाओं तक ही सीमित न रखकर अपने प्रबन्ध-काव्यों के बीच भी किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके प्रबन्ध-काव्यों में प्रबन्ध-विधान की शिथिलता तो स्थान-स्थान पर बनी रही, पर गीतिमय अभिव्यक्तियों में चमत्कार आता रहा है।

वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक बनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी।

× × ×

'स्वजनि, रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।'

ऐसी उक्तियाँ कवि की सर्वथा सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं मानी जा सकतीं। प्रबन्ध के प्रसङ्ग-सूत्र में रहती हुई भी ऐसी उक्तियाँ अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती और कवि के समन्वयवादी युगधर्म के निर्वाह का समर्थन करती हैं। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध की भाँति, न तो पूर्वाभिमुख हैं और न पंत की तरह पश्चिमाभिमुख ही। वे हिन्दी-काव्य की अनेक प्रवृत्तियों के मध्य की समन्वयमूर्त्ति तथा हिन्दी-पाठकों के बीच सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा'

श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' हिन्दी के रहस्यो-
न्मुख राष्ट्रीयतावादी एक सफल कवि हैं। उनकी अनुभूति गह
है और कल्पना विशद। किन्तु उनमें अभिव्यक्ति की कला क
बड़ा अभाव है। अभिव्यक्ति, कला का अन्तिम रूप है और इस
रूप की रक्षा के लिये अभिव्यक्ति को मूल अनुभूति के साथ
सामञ्जस्य रखना पड़ता है। 'भारतीय आत्मा' की प्रकृति, काफी
संवेदनशील होने पर भी, अपनी अभिव्यक्ति में जटिल है। उनकी
साधारण-से-साधारण उक्तियाँ भी किसी रूपक के आवरण में
व्यक्त हुई हैं। उनकी प्रकृति में वृत्तियों की एक निष्ठा है और इसी
कारण, उनकी अनुभूतियों में, परिस्थितिगत कुछ विलक्षणता के
अतिरिक्त, अन्यथा व्यतिक्रम नहीं मिलता।

'भारतीय आत्मा' की काव्य-प्रकृति में ऐन्द्रिक उत्तेजन की मात्रा
पर्याप्त है; और इसी कारण उनकी मार्मिकता में शक्ति का समन्वय
हो जाता है। उनकी अधिकांश रचनाओं में राष्ट्र-प्रेम का ही तत्त्व
पाया जाता है, किन्तु अपनी राष्ट्र-विषयक अनुभूति को व्यक्त करने
के लिए जिस प्रासादिकता तथा सरलता की आवश्यकता कवि को
होती है, वह दुर्भाग्यवश उन्हें प्राप्त नहीं। माखनलाल चतुर्वेदी के
जीवन के क्रियात्मक पक्ष पर दृष्टि रखने से, उनकी रचनाओं को,
उनके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि का सबल आधार मिलता है। उनकी
वाणी में शक्ति और सजीवता मालूम पड़ती है। इतना होने के
साथ ही यदि उनकी वाणी अभिव्यक्ति का कोई दूसरा रूप ग्रहण
करती, तो उनकी रचनाओं को महत्तर प्रतिष्ठा प्राप्त होती। उनके

व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जिस [illegible] हो रहा है, [illegible]
[illegible]

'भारतीय आत्मा' ने रहस्यवाद के रूप की भी कुछ रचनाएँ की हैं। पर वे प्रायः बनावटी-सी ही हैं। रहस्यवाद की परिपाटी के अनुसार उनके आराध्य इस जगत के नहीं, पार के हैं; किन्तु ऐसे आराध्य अधिकतर कल्पना-लोक में ही रहते पाये हैं। अपने आराध्य के प्रति कवि ने हृदय की जिस मार्मिकता का परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि उनका आराध्य लोकोत्तर नहीं, हृदय के निकट का ही और लौकिक है। जो अपनी प्रकृति से अधिक भावुक तथा मार्मिक होते हैं, वे अपनी मानसिक शक्तियों को किसी दूर के केन्द्र-बिन्दु के साथ उलझा नहीं सकते। 'भारतीय आत्मा' अपनी सारी संभावनाओं के साथ रहस्यवाद की सीमा के भीतर नहीं अँट सके, उन्हें उससे बाहर आना पड़ा। राष्ट्र के रंगीन स्वरूप ने उनके चिन्तन तथा कल्पना की रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रेरित कर, उनके आराध्य को ऊपर से नीचे उतार लिया और वह आराध्य सूक्ष्म से स्थूल जगत में आ गया।

'भारतीय आत्मा' की राष्ट्रीयता सीमित है, जैसा कि वह होती भी है; किन्तु उनकी राष्ट्रीय कविताओं में भावनाएँ गहन हैं। कहीं-कहीं राष्ट्रीय स्वरूप के साथ अध्यात्म-बोध का समन्वय कर देने से उनकी रचनाएँ अपनी अर्थ-भूमि को स्थिर नहीं रख सकी हैं; उनमें नवोत्थित काव्य-पद्धति का मूलभूत प्रतिक्रिया-स्वरूप वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति तो नहीं पाई जाती, लेकिन अपनी अभिव्यक्ति को सामान्य अनुभूति के स्तर से ऊपर उठाकर दूरारूढ़ भावना के साथ वे साम्य स्थापित करने की चेष्टा करते पाये जाते

हैं। इस कारण जहाँ-तहाँ उनकी रचनाओं की अन्वीति-रक्षा नहीं हो पाती। अनुभूति से प्रेरित जो उक्तियाँ खड़ी होती हैं, वे प्रकाशित होते-होते अस्फुट ही रह जाती हैं। अपनी अनुभूति की व्यंजना को गूढ़ वनाने के लिये आध्यात्मिक उपलक्षणों के प्रयोग की प्रवृत्ति उनमें पाई जाती है। कवि का हृदय स्वभावत: सरल तथा सरस है, परन्तु रहस्योन्मुख प्रवृत्ति के कारण उनकी अभिव्यक्ति जटिल हो जाती है। रहस्य-भावना को ही काव्य का प्रधान विषय मान लेने का यह परिणाम हुआ कि काव्य का तत्त्व स्वाभाविक भावनाओं में केन्द्रित न रहकर, कल्पित भावनाओं से पोपित होने लगा। 'भारतीय आत्मा' में देश-भक्ति का तत्त्व जितना स्वाभाविक है, उतना ही आध्यात्मिक तत्त्व भी, लेकिन दोनों के समन्वय ने उनकी अभिव्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक दुर्वोध कर दिया है। रहस्यवाद के अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं में, कवि ने प्रतीक पद्धति के अनुसार, वाचक के स्थान र लक्षक पदों का प्रयोगकर, अन्योक्ति का अवलम्बन लिया ै और इस प्रकार अप्रस्तुत कथन के द्वारा देश-भक्ति की हज मार्मिकता तथा भावुकता को दुरूहता के हाथों समर्पित कर या है।

सामान्य रूप से कविता-मात्र जनता के मर्म को स्पर्श करने- ी होती है, परन्तु लोक-हृदय के विचार से राष्ट्रीय कविताओं दायित्व उससे भी अधिक है। जनमत को अपनी ओर सुख करने के लिये साधारणत: दो ही उपाय काम में लाये कते हैं—वल और प्रतीति। वल-प्रयोग के द्वारा जनमत ुकूल वनाना राज-विधान के अन्तर्गत माना जा सकता है;

केवल किसी प्रकार वोधगम्य हो जाने पर ही कविताओं की सार्थकता नहीं मानी जा सकती।

जीवन के आनन्द, प्रेम, विलास आदि पक्षों की ओर भी कवि अनुप्राणित-से दिखाई पड़ते हैं, किन्तु प्रकृति की सरल गम्भीरता ने इस प्रवृत्ति को दबा दिया है। जहाँ उन्होंने अपनी प्रवृत्ति की रक्षा की है, वहाँ रचनाओं में स्वाद आ गया है, पर जहाँ उन्होंने अपनी लौकिक प्रणयानुभूति या वेदना को सांत के क्षेत्र से वाहर निकालकर अनन्त को अर्पित किया है, वहाँ वे एक गहन कवि हैं।

आह! गा उठे, हेमाञ्चल पर तेरी हुई पुकार—
वनने दे तेरी कराह को परसों की हुंकार।
और जवानी को चढ़ने दे वलि के मीठे द्वार,
सागर के धुलते चरणों से उठे प्रश्न इस वार—
अन्तस्तल से अतल-वितल को क्यों न वेध जाते हो?
अजी वेदना-गीत, गगन को क्यों न छेद जाते हो?

कवि की प्रेरणा प्रकृतिगत है, भाव स्वाभाविक है, किन्तु हृदय के परिचित तथा ज्ञात पक्ष को अपरिचित तथा अज्ञात की ओर निर्दिष्ट कर देने से उसकी वेदना का घनत्व कम हो गया है। गगन को छेदने की शक्ति उसमें भले ही आ गयी हो, पर उसमें हृदय को छेदने की क्षमता नहीं दिखाई पड़ती। अप्रस्तुत-विधान या रूपक की प्रवृत्ति ने किसी मार्मिक दृश्य-विधान को भी हृदय से कुछ दूर रखकर ही, उपस्थित किया है। कवि का एक मित्र कारावास से मुक्त हो गया है और उसकी प्रेरणा तथा स्वागत में कवि की पंक्तियाँ हैं—

जांच हुई, नभ से भूमण्डल
तक का व्यापक नाप हुआ;
अगणित वार समाकर भी
छोटा हूँ, यह सन्ताप हुआ।
अरे अशेष ! शेष की गोदी
तेरा बने विछौना-सा ;
आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना-सा।

ब्रह्म और जीव—अशेष या शेष के प्रसङ्ग को उपस्थित कर देने के कारण, इस कविता का आध्यात्मिक वोध वहुत महत्त्वपूर्ण है ; परन्तु लौकिकता का सम्बन्ध अक्षुण्ण न बना रहने के कारण उसकी रमणीयता का ह्रास तथा अर्थ दुर्वोध हो गया है। 'पुष्प की अभिलाषा' उनकी एक प्रसिद्ध कविता है। उस कविता में भावना तथा कला की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय वात नहीं, पर कवि के हृदय में जो अनुभूति की सचाई है, वह वड़ी मार्मिकता के साथ व्यक्त हुई है। कवि की कामना है—

चाह नहीं, मैं सुरवाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में विंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली ! उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

प्रत्येक कवि की काव्योपयुक्त प्रतिभा, अपनी समस्त शक्ति के साथ, एक ही समय में विकसित नहीं होती। अधिकांश कवियों

जयशङ्कर 'प्रसाद'

स्व० जयशङ्कर 'प्रसाद' मानव-भावनाओं के एक मार्मिक कवि हैं। जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा का बहुत ही सुन्दर वर्णन उनकी रचनाओं में मिलता है। काव्य-विधान में नयी-नयी उद्भावनाओं की शक्ति उनकी अद्भुत है। काव्य-जगत् में प्रसाद ने क्रान्ति की; किन्तु उस क्रान्ति में तेज नहीं, प्रताप था। प्रसाद में क्रान्ति के सन्देश को सुनाने की प्रेरणा थी, पर उसके सञ्चालन की क्षमता नहीं। क्रान्ति के लिये जिस भावुकता के प्रसार की आवश्यकता होती है, उसके लिए उनकी स्थिर बुद्धि तैयार न थी। वे जीवन को जिस दृष्टिकोण से देखते थे, उससे क्रान्ति की मनःस्थिति बन भी नहीं सकती थी। अपनी ऐसी मनोदशा से वे सन्तुष्ट थे, यह कहना भी शायद उनके साथ न्याय न करना होगा। बाह्य जगत् के जीवन-सङ्घर्ष को देखते हुए भी वे आँखें बचाकर अपने मार्ग पर चलते रहे। जहाँ उनमें एक ओर कवि-सुलभ भावुकता थी, वहाँ दूसरी ओर दार्शनिक गाम्भीर्य और संयम भी। यही कारण है कि भावुकता में डूबे रहने पर भी वे उसकी धारा में प्रवाहित न हो सके।

एक स्त्री-हृदय की कितनी प्रेम-सन्तप्त, निराशामयी वाणी है—

आह! वेदना मिली विदाई;
मैंने भ्रमवश जीवन - सञ्चित
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे सन्ध्या के श्रमकण
आँसू - से गिरते थे प्रतिक्षण

मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन विपिन की तरु छाया में
पथिक, उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई?
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी
रही बचाये फिरती कब की
मेरी आशा आह! बावली
तूने खो दी सकल कमाई
चढ़कर मेरे जीवन-रथ में
प्रलय चल रहा अपने पथ में
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर—
उससे हारी होड़ लगाई।

एक निराश नारी-हृदय की जीवन-यात्रा का यह एक चित्र है। उसके हृदय में प्रेम की जो आशा थी, जीवन-भर मधुकरियों की जो भीख एकत्र हुई थी, वह सब आशा की प्रवञ्चना से लुट गयी! जहां से उसे सब-कुछ मिलने की आशा थी, वहाँ विदाई में उसे वेदना ही मिली। इस करुणा-प्लावित चित्र में प्रसाद ने, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही, दार्शनिकता का रंग भी चढ़ा दिया है। थके हुए स्वप्नों की मधुर माया के बीच गहन विपिन में किसी पथिक ने विहाग की तान तो छेड़ी ही, जीवन-यात्रा में प्रलय के साथ होड़ लगाकर प्रसाद ने मानवीय आकांक्षा को अपने स्थान पर ही रखा।

जीवन के विषाद पर ये भी कितनी मार्मिक पंक्तियाँ हैं—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर
बिलखाता ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में
अपने ही चरणों में गिरता।
किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का यह थका चरण है।

प्रसाद का 'आँसू', विरह या उसकी स्मृति का एक बहुत ही मार्मिक गीति-काव्य है। आँसू की मार्मिकता तक हृदय को पहुँचाने में एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। इसका कारण यह है कि प्रसाद ने विरह के आलम्बन को इस जगत् का प्रत्यक्ष आधार नहीं दिया। पृथ्वी से आकाश, नीचे से ऊपर तक, अणु-परमाणु में, ग्रह-नक्षत्र में, सर्वत्र आलम्बन की सत्ता को मिला दिया है। ज्ञात को अज्ञात बनाने या कम-से-कम उसे बहुत दूर तक उड़ा ले जाने की कल्पना अवश्य की गई है। अज्ञात के साथ हृदय-सम्बन्ध स्थापित करना केवल कठिन ही नहीं, अस्वाभाविक भी है। ज्ञात के विरह में जो मार्मिकता लक्षित हो सकती है, वह अज्ञात में नहीं। आँसू में विरह का जो वर्णन जीवन के जितना ही निकट है, वह उतना ही मार्मिक हुआ है और जो सामान्य हृदय की पहुँच के बाहर जा पड़ा, उससे आध्यात्मिक स्वाद भले ही मिले, हृदय को समतल पर चलकर भावों का सार समन्वय नहीं मिल सका है। आँसू की रचना भी मानसिक उद्वेग की अवस्था में हुई जान नहीं पड़ती है। उद्वेग-

भावनाओं के अनुसार उसकी गति-विधि का वर्णन किया है। अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण प्रसाद प्रकृति को निरपेक्ष सत्ता नहीं दे सके, किन्तु प्रकृति के जिस रूप को उन्होंने वर्ण्य माना, उसकी सङ्गति का निर्वाह किया। उनकी अनुभूति में मनोनिवेश तथा आत्म-सम्वेदन है। नारी-रूप तथा भाव के वर्णन में प्रसाद ने वड़ी सहृदयता दिखाई है। उनके हृदय में जो प्रणयानुभूति थी, उसकी व्यञ्जना की है, किन्तु अपनी प्रकृति से गम्भीर, संयत तथा बुद्धिवादी होने के कारण लौकिक भावनाओं को अध्यात्मवाद के आवरण में दूरारूढ़ कर दिया है। यही कारण है कि अपने अन्तर्जगत को अभिव्यक्त करने के लिये उन्होंने रीति-कालीन कवियों से अन्यथा, पार्थिवता के साथ वहुत कम सम्वन्ध रखा। प्रेम-कथा से उनको अनुराग था, पर इस कोलाहल-भरे संसार में नहीं, अनन्त तथा सांत के मिलन-स्थल, क्षितिज, में, जहाँ की निर्जनता में, सागर की लहरें, आकाश के कानों में, निश्चल प्रेम-कथा कहती हों—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक! धीरे - धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

कामायनी का प्रणयन प्रसाद के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मानव-भावनाओं का यह एक गहन काव्य है। श्रद्धा या रागात्मिका वृत्ति ही मनुष्य को कल्याण-मार्ग से

के योग से जो कर्म-विधान दिखाया, वह यदि श्रद्धा के सहयोग से भी दिखाया जाता, तो जीवन का सौन्दर्य अधिक उद्भासित हो उठता।

श्रद्धा के साथ प्रथम मिलन के समय मनु ने जिस मधु-सिक्त वाणी का गुंजार सुना, उसका वर्णन यह है—

'कौन तुम ? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

मधुर विश्रान्त और एकान्त—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चञ्चल मन का आलस्य !'

सुना यह मनु ने मधु गुञ्जार
मधुकरी का-सा जब सानन्द,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द ;

एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे-से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

इड़ा के प्रथम दर्शन के समय कवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सिद्धान्त के विचार से अद्वैतवादी हैं और ऐसे विषयों का अध्ययन-मनन भी उनका अच्छा है, पर यह रूप उनके विचारक का है। कवि-रूप में निराला इतने कट्टर सैद्धान्तिक नहीं ठहरते। ब्रह्म और जीव के विवेचन के समय कविताओं में निराला के प्रायः द्वैत रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उनका वास्तविक रूप भी समय-समय पर स्वानुभूतिमूलक रचनाओं तथा अपने काव्यगत पत्रों की ओट में प्रकट हुआ है। ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है, लेकिन जीव को भी आनन्द-स्वरूप बन जाने में जीवन की रसात्मक सार्थकता प्राप्त नहीं हो सकती। पञ्चवटी-प्रसंग में निराला ने लक्ष्मण के मुख से इस विषय का स्पष्टीकरण कराया है।

> सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ
> तो अधिक आनन्द है
> अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध
> पीता रहूँ सुधा इन्दु-सिन्धु से बरसती हुई
> तो सुख मुझे अधिक होगा ?
> इसमें सन्देह नहीं,
> आनन्द बन जाना हेय है,
> श्रेयस्कर आनन्द पाना है,

वस्तुतः गुड़ बन जाने से ही गुड़ का मिठास नहीं मिल सकता। जीव यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' ही रटता रहे, तो उसे साधना का सुख प्राप्त नहीं हो सकता। काव्य का जो मूल तत्त्व हृदय

की रागात्मक विभूति है, उसका सामञ्जस्य अद्वैतवाद के साथ नहीं बैठता। अपनी सैद्धान्तिक शुष्कता को हटाकर निराला ने हृदय की भावुकता का अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर परिचय दिया है, किन्तु सर्वत्र ऐसी बात नहीं पायी जाती। उनके गीतों में भावानुभूति का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया है। कहीं-कहीं दार्शनिक तत्त्वों को हृदयग्राह्य रूप देने की चेष्टा बिलकुल नहीं की गई है। पञ्चवटी-प्रसंग में ही इसके अनेक उदाहरण हैं। जैसे—

> सुनो भाई,
> जिस प्रकार व्यष्टि एक धरती है सूक्ष्म रूप
> वैसे ही समष्टि का भी
> सूक्ष्म भाव होता है।
> रहते आकाश में हैं
> प्रकृति के सब सारे बीज।
> और यह भी सत्य है कि,
> प्रकृति के तीनों गुण सम जब हो जाते हैं,

हमारे जीवन के भीतर जो जीवन है, खण्ड में जो अखण्ड है, उसका वर्णन एक समस्या है। इस समस्या के कारण हमारे अहं-बोध की चेतना वास्तव से अवास्तव की ओर हमें ले चलती है। साधना-विहीन जीवन में वह अवास्तव केवल अवास्तव ही बना रह जाता है, उसकी प्रतीति के द्वारा हमारे हृदय की रागिनी तन्मय नहीं हो पाती। वह एक गूढ़ तथा साध्य विषय की तरह हमारी बोधवृत्ति को चञ्चल तो कर देता है, पर तृप्त नहीं कर सकता। निराला की कविता में हृदय-योग की अपेक्षा मस्तिष्क-

योग का आधिक्य है। बुद्धि-तत्त्व की प्रबलता के कारण ही उनकी कविताओं में विचारों की इतनी सघनता रहती है कि वे प्रायः दुर्बोध-सी लगती हैं। निराला एक भावुक कवि की अपेक्षा तार्किक, विचारक तथा दार्शनिक ही विशेष हैं।

निराला के गीतों में रहस्यात्मक भावनाएँ अपनी प्रधानता रखती हैं, किन्तु उनके सब गीत ऐसे ही नहीं। कोई-कोई गीत तो परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष जीवन के साथ ही अधिक सम्बन्ध रखनेवाले हैं। आध्यात्मिक चिन्तन प्रबल रहने के कारण उनके साधारण गीत भी किसी-न-किसी रहस्य-भावना से अनुप्राणित मालूम पड़ते हैं। उनके कुछ गीत प्रार्थना-परक हैं और कुछ तथ्य-निरूपक। गीतों के आलम्बन कहीं अमूर्त्त हैं और कहीं मूर्त्त। मूर्त्त रूप में आदिशक्ति माँ के प्रति कवि की पूजा-बुद्धि अधिक जागरित है। 'हुआ प्रात प्रियतम तुम जाओगे,' 'तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान', 'प्रिया के प्रति,' 'नयनों में हेर प्रिये' आदि गीतों तथा अन्य कविताओं में आलम्बन का स्त्रीत्व ही नहीं, कामिनीत्व भी झलकता है।

निराला के चित्त पर वैष्णव पदावलियों का संस्कार भी जाग्रत है। लौकिक प्रणय-मूलक वासना को लोकोत्तर भाव के मूल्य पर अभिव्यक्त करना निश्चय ही आत्म-प्रवञ्चना है। वैष्णव पदावलियों में भी लौकिक तथा अवैध प्रणय-वासना की कमी नहीं है, परन्तु वहाँ आध्यात्मिकता का संस्कार आरोपित कर उससे शक्ति-ग्रहण किया जाता है। जीव को ब्रह्म की ओर अपनी चित्तवृत्ति को लगाये रखने के लिये जिस तीव्र मनोवेग की अपेक्षा की जाती है, वह परकीया के अवैध प्रेम में ही सम्भावित माना गया है। श्रुति

ने भी—तं च जारमिव—परपुरुप के मिलने में ही उत्कट आकर्पण की स्थिति मानी है। पति-पत्नी का वैध प्रेम उतना उन्मादकर नहीं होता, जितना उन्माद ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'भक्तियोग' में वैष्णव पदावलियों की अवैध प्रणय-भावना की आध्यात्मिक सार्थकता बताई है। उनके मतानुसार प्रायः भक्तगण भगवत्प्रेम का वर्णन करने के लिये मानवी प्रेम-भापा का व्यवहार करते हैं। मूर्ख लोग इस वर्णन को नहीं समझते। जड़-दृष्टि से देखने के कारण इसे वे समझ भी नहीं सकते। भगवत्प्रेमी को पति-पत्नी के प्रेम से सन्तोष नहीं होता; क्योंकि वैसा प्रेम यथेष्ट उन्मादकर नहीं होता। इसलिये वह अवैध (परकीय) प्रेम-भाव ग्रहण करता है; क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। अवैध प्रेम की अवैधता उसका लक्ष्य नहीं होती। इस प्रेम की प्रकृति यह है कि वह जितना ही रोका जाता है, उतना ही उग्र हो जाता है। पति-पत्नी का स्वकीय प्रेम वैध होने के कारण अवाध है। उसमें वाधाएँ और विघ्न नहीं हैं। इसी कारण भक्त कल्पना करता है कि मानों एक वालिका अपने प्रियतम परपुरुष पर आसक्त है, परन्तु उसके माता-पिता और स्वामी इस अवैध प्रेम के विरोधी हैं। इस प्रेम में जितनी ही वाधाएँ डाली जाती हैं, उतना ही वह प्रबल भाव धारण करता जाता है। विवेकानन्द ने अवैध प्रेम की प्रवलता को ही भक्ति के राग का मापदण्ड माना, उसकी अनैतिकता के अनौचित्य को न्याय्य नहीं माना। निराला के गीतों तथा शीर्षक-युक्त कविताओं में मानवोचित प्रेम-भाषा का बड़ा उन्मुक्त व्यवहार किया गया है, किन्तु कवि के हृदय पर वैष्णव पदावली का संस्कार

ऐसे सघन रूप से प्रतिष्ठित नहीं है, जिसके लिये आध्यात्मिक समर्थन की बहुत आवश्यकता समझी जाय।

प्रकृति की नाना वस्तुओं के विविध रूपों तथा व्यापारों को निराला ने मानवीय दृष्टिकोण से, लौकिक प्रणय-वासना से सन्तप्त, वर्णित किया है। यदि प्रकृति-व्यापार को मानवीय अनुकरण पर चित्रित कर उसके रूप की अन्योक्ति कल्पना न की जाय, तो कवि की अपूर्व मार्मिकता तथा सहृदयता का परिचय मिल सकता है। 'जुही की कली' तथा 'शरत्पूर्णिमा की विदाई' आदि कविताओं में अप्रस्तुत का वर्णन प्रधान न मानकर प्रस्तुत को ही वर्ण्य रखा गया है। यदि उन्हें मानवीय प्रणय-चेष्टा के रूप का अप्रस्तुत-विधान माना जाय, तो वे अन्योक्तियाँ हो जायँगी और तब कवि के हृदय में प्राकृतिक दृश्य के प्रति मार्मिकता शेष न रहेगी। 'यमुना के प्रति' कविता में निराला ने अपनी भावुकता का अच्छा परिचय दिया है। यमुना के दृश्य-वर्णन में उसका अनुबन्ध सम्बन्ध तथा निर्दिष्टता का सम्यक् निर्वाह कर कवि ने उसे केवल वर्णन का उपलक्ष्य मात्र नहीं रखा। कवि में प्रकृति के निरीक्षण की सूक्ष्मता और सहृदयता है, किन्तु उनके पास यदि मानवीय परिधि से बाहर जाकर प्रकृति के स्वतन्त्र रूप-व्यापार को देखने की प्रवृत्ति भी रहती, तो हिन्दी-काव्य में वे एक आदर्श की प्रतिष्ठा कर पाते।

छन्द का त्याग या लय का अवलम्बन कर चलनेवाली कविताओं के साथ रहस्यवाद का कोई जातीय सम्बन्ध नहीं। रहस्यवाद काव्य-वस्तु के साथ सम्बन्ध रखता है और छन्द या लय उसके अभिव्यक्ति-विधान से। हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद

तथा मुक्त छन्द का प्रचलन प्रायः एक ही समय तथा एक ही
प्रवृत्ति के कवियों के द्वारा हो जाने के कारण कुछ पाठकों ने
दोनों को अन्योन्याश्रित समझ लिया और उन्हें मुक्त छन्द में
रचित शुद्ध इतिवृत्तात्मक तथा वर्णनात्मक कविता में भी रूसावाद
का भ्रम हुआ। छन्द और तुक नहीं, लय के आधार पर ही
टिका हुआ नाद-विधान है। मुक्त छन्द में भी जबतक लय का
प्रतिबन्ध माना ही जायगा, तबतक उसे मुक्त—सभी बन्धनों से
मुक्त—नहीं माना जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता
है कि पुराने बन्धन की जगह नये बन्धन की व्यवस्था कर दी
गई।

निराला की प्रसिद्धि का अधिकांश श्रेय उनकी नई छन्द-
व्यवस्था को है। भिन्न-तुकान्त कविताएँ पहले से ही रची जा
रही थीं और संस्कृत का प्रायः सारा काव्य-साहित्य ऐसा ही है,
पर मुक्त छन्द की रचना में निराला ने अपने अद्भुत साहस तथा
विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। 'जुही की कली' शायद
उनकी इस प्रकार की पहली रचना है। इस कविता में उनका
मनोवेग जिस तीव्रता के साथ व्यक्त हुआ है, उससे स्वभावतः
ही उसमें श्रुति-मधुरता उत्पन्न हो गई है। छन्द में यथासम्भव
लय के अनुशासन की चेष्टा की गई है, किन्तु उनका अनुशासन
इतना कठिन है कि साधारण गायक या पाठक के लिये वह व्यर्थ-
सा हो जाता है। लय या राग के अनुशासन से कविता को
दीर्घायु प्राप्त होती है। निराला एक अच्छे गीत-कवि हैं, किन्तु
यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि शास्त्रीय दृष्टि से वे एक
गीति-कवि की अपेक्षा गीतिकार ही अधिक हैं।

मुक्त छन्द या स्वछन्द छन्द का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ निराला के ऊपर है और शायद इसी कारण कवि ने हिन्दी पाठकों के सम्मुख स्वच्छन्द छन्द को लेकर उपस्थित होते समय मस्तिष्क में तर्क तथा हृदय में साहस भर लिया है। छन्दों के नये विधान को देखकर ही घबड़ाने या चिन्ता करने की जरूरत नहीं होती। यदि नये छन्द कवि की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में विशेष सुविधाजनक हों, तो उनका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। छन्द-विधान में परिवर्त्तन होने पर समीक्षक को भी अपना दृष्टिकोण बदलना आवश्यक है, अन्यथा उससे न्याय की आशा कम ही रहेगी। व्यवस्थापक के अनुसार ही विचारक को अपनी समीक्षा का निर्वाह करना पड़ेगा[१]। निराला ने अपने ऊपर दो भार लिये हैं—विधान बनाना तथा उसके अनुसार चलना। नीतिशास्त्र की दृष्टि में यह अभियोग्य स्वेच्छाचार है। ऐसी स्थिति में कवि के साथ समीक्षक का दायित्व भी बढ़ जाता है। सममात्रिक सांत्यानुप्रास के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना नहीं; क्योंकि इसके लिए निराला को हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों की अनुमति मिली हुई है। मुक्त छन्द में उन्होंने दो ढंग की रचनाएँ की हैं—एक विषम-मात्रिक सांत्यानुप्रास तथा दूसरा विषम-मात्रिक अंत्यानुप्रासहीन या पूरा स्वच्छन्द छन्द। इसी दूसरे प्रकार की रचना में काफी विलक्षणता है। प्राचीन गुरुडम से उत्पन्न प्रति-

---

१. '.........When the laws of poetry are changed, the critic, of course, has to begin again; the judiciary must administer what the legislature enacts.........

—H. W, Garrod ; Poetry and the Criticism of Life.

प्रथम कंपन में संपूर्ण बीज सृष्टि के,
पूर्णता से खुला मैं पूर्ण सृष्टि-शक्ति ले,
त्रिगुणात्मक रचे रूप,
विकसित किया मन को,
बुद्धि, चित्त, अहंकार, पंचभूत,
रूप-रस-गंध-स्पर्श,
शब्दज संसार यह,
वीचियाँ ही अगिनित शुचि सच्चिदानंद की।

यह सच है कि किसी भाव या विचार की पूर्णता का संबंध उसके वाक्य-विन्यास के ऊपर निर्भर करता है और यह आवश्यक नहीं कि ऐसी पूर्णता चरणांत में ही समझी जाय। निराला के पहले भी दो-एक कवि ने ऐसे मध्य-चरण विराम का प्रयोग किया है। पूर्ण विराम का ऐसा प्रयोग केवल व्यर्थ नवीनता ही नहीं, प्रत्युत् लय की गति का बाधक भी है। स्वच्छंद छंद में इतनी सुविधा तथा स्वेच्छा तो है ही कि जहाँ पाया वहाँ चरण तो समाप्त कर दिया। फिर इस प्रकार के प्रयोग का कुछ औचित्य नहीं मालूम पड़ता।

निराला की प्रतिभा बहुमुखी है। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त 'तुलसीदास' की प्रबंध-कल्पना भी उनकी प्रतिभा की द्योतक है। जीवन में केवल प्रेम-गीत को ही महत्त्व न देकर उन्होंने विधवा, भिक्षुक तथा इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती हुई मजदूरनी की चिंता भी रखी है। उनकी 'भिक्षुक' कविता में भिखारी का बड़ा रमणीय बिंब-ग्रहण किया गया है।

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' स्वानुभूतिमूलक करुणा के एक मार्मिक कवि हैं। अपनी तरल भावुकता को वाह्य प्रकृति की शुष्कता तथा संयम के नियंत्रण के भीतर रखने की उन्हें अपूर्व क्षमता भी है। वेदना उनके जीवन का सार-सर्वस्व है। उनकी वेदना जीवन की शुद्ध वेदना नहीं, बल्कि उसमें जीवन के विलास का आकर्षण है। अपने विरह-दुख को हृदय के भीतर पालनेवाली पतिप्राणा नारी की तरह वे अपनी वेदना को आध्यात्मिक आवरण देकर सुख की सांस लेते हैं। उनकी वेदना जीवन की शाश्वत भावना है और किसी भी आकांक्षा की पूर्त्ति से उसका शमन नहीं हो सकता—

अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखों का मीठा सार।

अपनी वेदना को अमरता का विशेषण देकर अपनी काव्य-साधना के साथ-साथ उन्होंने उसे आत्म-साधना का भी विषय बना लिया है। द्विज की वेदना कविता में आत्मप्रवंचना के रूप में नहीं देखी जा सकती। वेदना या पीड़ा ही उनका मूल काव्य-द्रव्य है और उसके स्मृति-स्पर्श से ही उन्हें काव्य-प्रेरणा होती है—

पुलक, कंपन की खा मृदु चोट
सिहर उठते प्राणों के तार।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में द्विज व्यक्तिवाद की प्रधानता का समर्थन करते हैं और शायद इसी कारण वैयक्तिक अनुभूतियों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं समझते। यह सच है कि "प्रत्येक व्यक्ति की अंतर्वृत्तियाँ स्वतन्त्र हुआ करती हैं और वे

विच्छेद, सफलता-असफलता आदि के भीषण द्वन्द्व चल रहे हैं और प्रत्येक वर्ग का पूर्वपक्ष पराजित होता जा रहा है, उत्तर पक्ष को विजय मिलती जा रही है।" इसी कारण शायद द्विज के जीवन में आनन्द की सृष्टि नहीं हो सकती। विषाद वस्तुतः आरम्भ से ही उनकी कविता का पोषक तत्त्व बनकर रहता आया है और आज भी वह वही है, लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के एक ही स्वरूप के प्रति दृष्टि रखने के कारण द्विज का काव्य-क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो गया। जीवन में सत्य का प्रत्यक्ष पराजय कोई असंभाव्य घटना नहीं, किंतु अंतिम रूप से उसको पराजित करना निश्चय ही असंभव है। यदि जीवन में सत्य की सर्वत्र प्रत्यक्ष विजय ही होती जाती, तो असत्य का पल्ला पकड़कर कोई विजय का स्वप्न ही क्यों देखता! द्विज प्रत्यक्ष के आग्रही हैं। वे जीवन के उस आध्यात्मिक स्वरूप को देखने का कष्ट नहीं करते, जहाँ पराजय का कुछ पता नहीं, केवल विजय ही विजय है। वे जीवन और जगत् में दुःखों के अस्तित्व की उपेक्षा न करनेवाले कवि हैं, जो आशावाद का मोह न छोड़कर भी निराशावादी बनते हैं।

सुख और दुःख या आनन्द या विषाद की भिन्न-भिन्न सत्ताओं के सम्बन्ध में वेदांतियों में भी मतभेद रहता आया है। कोई दोनों को नित्य और शाश्वत मानता है और कोई एक के अभाव में दूसरे की स्थिति। यदि आनन्द और विषाद दोनों की सत्ताएँ शाश्वत मानी जायँ, तो किसी भी कारण उनके अस्तित्व का बाध नहीं हो सकता। परिस्थिति के अनुसार वे न्यूनाधिक हो सकती हैं। द्विज अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जीवन में विषाद-

तत्त्व को विशेष महत्त्व देते हैं, पर आनन्द-तत्त्व का बाध नहीं करते। विषाद उनकी कविता का पोषक तत्त्व भी तभी तक रह सकता है, जबतक वे अपनी काव्य-प्रेरणा के लिये उसमें से ही आवश्यक आनन्द उपार्जित न कर लें। लोग वेदना से रोते हैं, किन्तु इस प्रकार रोने में भी उन्हें आनन्द न मिले, तो वे अपने रोने के क्रम को कुछ देर तक भी न चला सकेंगे। आनन्द के बिना उनके कवित्व की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। यदि जीवन में वे आनन्द-तत्त्व की सत्ता किसी रूप में भी न मानते होते, तो अपनी कविता के सम्बन्ध में ऐसा विचार न रखते कि रुदनशील प्रवृत्ति की इस प्रधानता के कारण उनकी काव्य-कला में एकांगिता आ गई है। इस एकांगिता शब्द से ही यह संकेत मिलता है कि जीवन में केवल रुदनशील प्रवृत्ति ही नहीं होती, बल्कि उसका कोई दूसरा पक्ष भी होता है। कोई भी कवि लोक-जीवन की समस्त सामान्य भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। द्विज से भी हम ऐसी आशा नहीं रख सकते।

अभाव की पूजा तथा अपनी वेदना की विवृति में विशेष अनुरक्त रहने के कारण द्विज प्रकृति के भाव की पूजा करने में समर्थ न हो सके। जगत् में अभाव कुछ नहीं, भाव की सत्ता सर्वत्र पाई जाती है। दार्शनिक बाध की तरह अभाव भाव की सत्ता के विनाश का द्योतक नहीं हो सकता। जीवन की अपूर्णता जिस सीमा तक सत्य है, अभाव भी उसी सीमा तक सत्य माना जा सकता है, किन्तु जब जीवन अपनी सारी अपूर्णताओं को रखते हुए भी जीवन ही रहता है, तब भाव अपने अभाव की स्थिति के रूप में भी भाव क्यों न बना रहे! द्विज अपने सुख-दुःख

की अपेक्षा रखकर ही प्रकृति का वर्णन करनेवाले कवि हैं, प्रकृति को मुख्य आलंबन के रूप में ग्रहण कर चलनेवाले कवि नहीं। जीवन की संगति के अनुरूप ही प्रकृति के ऊपर अपने सुख-दुःख को आरोपित करने की प्रवृत्ति प्रायः हिन्दी-कवियों की ही रही है। ऐसे कवियों की वेदना का क्षेत्र भी रति-भाव के ही अन्तर्गत रहता आया है। द्विज करुणा के कवि हैं और इसी कारण विरही या विरहिणी की तरह प्रकृति को भी केवल विरह-क्लांत रूप में ही देखने की आवश्यकता समझते हैं। उनकी करुणा में वैयक्तिक जीवन को प्रधान स्थान प्राप्त है। उसमें न तो अखण्ड मानवता के लिए स्थान है और न प्रकृति को ही अपनी सारी विभूतियों के साथ अँटने की जगह। संस्कृत के कवि भवभूति ने काव्य में करुणा को जो महत्त्व दिया, उसके भीतर उन्होंने प्रकृति को भी अपनी सीमा में प्रतिष्ठा दी, किन्तु द्विज की कवि-प्रवृत्ति में विषाद इतना घनीभूत है कि वह अपनी छाया के अतिरिक्त जगत् में दूसरी कोई सत्ता नहीं देख सकती। उनकी सारी रचनाओं में जिन दो-चार स्थलों पर आयास या अनायास भाव से प्रकृति के वर्णन हैं, वहाँ प्रकृति को अपने स्वतन्त्र रूप की मर्यादा नहीं मिली है। अपने हृदय की पूर्व प्रतिष्ठित वेदना की प्रबलता व्यञ्जित करने के लिये द्विज ने प्रकृति के विहँसते स्वरूप में भी उपहास का ही अवसाद पाया है—

नभ के इन हँसते तारों का
छिपा हुआ उपहास,
फेंक रहा मुझ निराधार को
ग्लानि-अनल के पास।

नियति का कैसा निठुर विधान ?
ढूंढ़ने चलूं कहां परित्रान ?

शायद उनके जीवन में कभी प्रकृति को भी स्थान प्राप्त था, पर अब उनका जीवन-उपवन उजड़ गया है और उपवन के उजड़ने के बाद ही उनके काव्य-देवता ने उसमें प्रवेश किया—

कलियों का यौवन बीता,
अलियों के भाग विलाये !
मेरे उजड़े उपवन में
तब हो तुम हँसते आये !

कवि के जीवन में जब तक प्रकृति शृंगार करती थी, तब तक उनका कवित्व मौन था। प्रकृति का शृंगार हटते ही उनके जीवन में विषादमय उस परम तत्त्व ने अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की। प्रकृति के उस पुराने साहचर्य ने भी कवि के जीवन में कोई राग उत्पन्न नहीं किया, प्रत्युत् उससे उनको मादक संवेदना ही मिली—

किसकी यह छवि, किसका सिंगार ?
मिल रहा पुनः किस मधुऋतु का
जीवन-उपवन को यह दुलार ?
पा किस नव आशा से हुलास,
खिल पड़ा प्रणय का मुकुल मौन ?
स्मृति के निकुंज में कूक उठी
यह तड़प-भरी कोकिला कौन ?
किसकी साँसें यों सिहर-सिहर,
करतीं मादकता का प्रसार ?

सुख-स्वप्नों का यह अमर लोक
निरखूँ अब किससे नयन छीन ?
मेरा प्यारा सौभाग्य-सूर्य
छिप गया, हुआ मैं ज्योति-हीन।

पर, उसकी ही यह मधुर याद
फिर कौन दिलाता बार-बार ?

पाकर खोता हूँ सतत, कभी
खोकर पाऊँगा क्या न हाय ?
भय है, यह मेरा मिलन आज
फिर शाप विरह का पा न जाय !

क्या करूँ ? छिपा सकता न और
इस 'छाया-नट' से हृदय-हार !

द्विज के विषाद में वैयक्तिकता का अधिक समन्वय रहने के कारण सूफियों की-सी विरह-वेदना की एकनिष्ठता तो आ गई है, परन्तु एकनिष्ठता का निर्वाह करते हुए जीवन के विविध रसात्मक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। उनकी झोली छोटी है, वैभव का अधिक भार उठा सकने की उसमें समर्थता नहीं। प्रकाश की भीख माँगते उनको अंधकार ही मिलता है, किन्तु प्रकाश माँगने की आकांक्षा तो दूर नहीं होती। अपनी अनुभूति तथा अन्तर्ध्वनि को आत्म-साधना के अनुरूप अभिव्यक्त कर सकने की कवि में यथेष्ट क्षमता है। विषाद-तत्त्व को अपनी काव्य-साधना का विषय बनाकर करुणा का इतना वैभव बिखेरनेवाला हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं। द्विज अपनी सीमा में एक बहुत ही मार्मिक कवि हैं।

सुमित्रानन्दन-पन्त

सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध होनेवाले सब से अधिक भावुक कवि हैं। बचपन से ही प्रकृति का उन्मुक्त साहचर्य प्राप्त रहने के कारण उनको प्रकृति के नाना व्यापारों में अपनी कवि-सुलभ अन्तर्दृष्टि से काम लेने की अच्छी समर्थता मिली है। जीवन के अनेक अवसर पर, विविध प्रसंग पर प्रकृति के जो चित्र-विन्यास उन्होंने अपनी रचनाओं में उपस्थित किये हैं, वे हिन्दी काव्य-जगत में अपूर्व और रमणीय हैं, लेकिन प्रकृति को देखने के लिये सदा उन्होंने अपनी एक ही अन्तर्दृष्टि से काम नहीं लिया। प्रकृति के विविध स्वरूपों में सर्वत्र और सर्वदा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का पूरा-पूरा सामञ्जस्य नहीं मिल सकने के कारण, उन्होंने प्रकृति के निश्चल रूप का मानवीकरण भी कर दिया है। कहीं-कहीं मानवीकरण के अप्रस्तुत विधान की ओर अधिक आकर्षित रहने से प्रस्तुत की प्राकृत व्यञ्जना दूरारूढ़ हो गई है। कवि जब प्रकृति में अपने ऐन्द्रीय प्रणयोद्गार तथा मनोऽनुकूल सौंदर्य-रचना की कल्पना करता है, तब हेत्वाभास के आधार पर प्रकृति को भी उसी स्तर पर लाने की चेष्टा करता है। चाँदनी पर कवि के उद्गार हैं—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारदहासिनि,
मृदु करतल पर शशिमुख धर
नीरव, अनिमिष एकाकिनि!

वह स्वप्न जड़ित नत चितवन
छू लेती अग-जग का मन
श्यामल कोमल चल चितवन
लहरा देती जग - जीवन !

× × ×

दिन की आभा दुलहिन वन
आयी निशि निभृत शैन पर,
वह छवि की छुई - मुई - सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर ।

× × ×

दूसरे प्रसङ्ग पर चाँदनी के ही सम्बन्ध में वे कहते हैं—

जग के दुख - दैन्य - शयन पर
यह रुग्ना जीवन बाला
रे कब से जाग रही, वह
आंसू की नीरव माला !
पीली पड़, दुर्बल, कोमल,
कृश देह - लता कुम्हलाई
विवसना, लाज में लिपटी—
सांसों में शून्य - समाई ।
रे म्लान, अँग रँग, यौवन
चिर मुक्त, सजल नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर
बस मृत्यु-शेष अब जीवन !!

जहाँ कहीं उन्होंने प्रकृति को मानवीकरण से निरपेक्ष होकर

चित्रित किया, वहाँ बहुत ही रमणीय दृश्य-विधान उपस्थित हो गया है—

पावस - ऋतु थी पर्वत-प्रदेश ;
पल-पल परिवर्त्तित प्रकृति-वेश ।

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार ;

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण - सा फैला है विशाल !!

गिरि का गौरव गाकर झर्‌झर्
मद से नस-नस उत्तेजितकर,
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झागभरे निर्झर ।

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं - से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !

—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !

धँस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !

—यों जलद-यान में विचर-विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !

पंत ने प्रकृति में एक शक्ति तथा रहस्य को देखा है। उनके वर्णन में सूक्ष्मता तो है, किन्तु प्रकृति के व्यापार का वर्णन अप्रस्तुत-विधान की साम्य-भावना के आधार पर हुआ है। प्रकृति के विविक्त स्वरूप को सर्वत्र महत्त्व न दे सकने का कारण उनकी कवि-सुलभ भावुकता ही है। फिर भी वे सर्वाधिक प्रकृति-प्रेमी कवि हैं।

पंत को नारी-रूप के प्रति सहज आकर्पण है। भोग्य-रूप में नारी का साधारणतः सौन्दर्य-विधान किया जाता है और पूज्य रूप में उसका महत्त्व-विधान। मातृ-सुख से वञ्चित रहने के दुर्भाग्य का निराकरण करने के लिये, उनके कवि ने वालिका वनकर माँ से स्नेह-संलाप किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में सखियों तथा सजनियों के साथ हिल-मिलकर भावनाओं की कोमलता प्राप्त की है। नारी-रूप के प्रति अधिक आकर्षित होने का कारण वासनात्मक 'प्रणयोद्गार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अपनी भावुक तथा कोमल प्रकृति का सामंजस्य रखना भी मालूम पड़ता है। किसी प्रवन्ध-विधान के अन्तर्गत प्रसङ्गप्राप्तरूप से स्त्रियोचित अभिव्यक्तियाँ जितनी स्वाभाविक हो सकती हैं, उतनी मुक्तक रचनाओं में नहीं। कविता के समग्र रूप को नारी की अभिव्यक्ति के रूप में उपस्थित करना और वह भी पुरुप रचयिता होकर, उनकी कवि-प्रकृति की स्त्रैणता ही प्रमाणित करता है। पंत ने कोमलता के आग्रह से ही ऐसा किया है।

पंत की गीति रचनाओं में अनुभूति की तीव्रता उतनी नहीं पाई जाती, जितना उनमें कल्पना का प्रसार है। गीति काव्य में कवि की अनुभूति तथा मनोनिवेश ही प्राण-स्पन्दन करता है। कवि की भावुकता अपने कल्पना-सूत्र को कभी-कभी इतना अधिक विकसित कर देती है कि कहीं-कहीं उनकी रचनाएँ, कुछ ज्यादा पानी मिले शरबत की तरह, नीरस मालूम पड़ती हैं। क्षणिक तथा क्षीण अनुभूति को भी कल्पना के वितान पर चढ़ा-बढ़ाकर रमणीय बना देने की कला पंत में अद्‌भुत् है, किन्तु अपनी इस कला के साथ-साथ यदि वे अपने हृदय को भी लेते चलते, तो वास्तव में पंत के रूप में हिन्दी को एक अपूर्व कवि प्राप्त होता।

राष्ट्रीय नव जागरण ने भी पंत के चित्त को प्रभावित किया, लेकिन उनकी रचनाओं में इसका कोई जाग्रत् स्वरूप लक्षित नहीं होता। प्रकृतिवाद की एकनिष्ठा को क्रमशः अग्रसर करते हुए जब वे मानवतावाद की सीमा पर जा पहुँचे, तब कुछ लोग कहने लगे कि पंत साम्यवादी-सा विचार रखने लगे हैं। वस्तुतः कोई कवि न तो गांधीवादी होता है और न साम्यवादी। कवि-रूप में वह किसी भी 'वाद' के साथ स्पष्ट, सम्बन्ध रखकर अपने काव्य की मर्यादा का निर्वाह नहीं कर सकता। पंत का ध्यान देश के उन दीन-हीन कृषक-श्रमजीवियों के दशा-वर्णन पर आकर्षित हुआ है। कवि के नाते यह स्वाभाविक ही है। काव्य के अन्तर्गत विभिन्न शाखा-पद्धतियों के रूप में जितने 'वाद' चल रहे हैं, उनसे मुक्ति पाकर राजनीतिक 'वादों' से प्रभावित हो प्रवादी बन जाना, किसी भी कवि के लिये शोभनीय नहीं माना जा सकता। मानवता के हित-विचार से अपनी काव्य-रचना के दृष्टिकोण में

वस्तु-विन्यास का कुछ दिशा-भेद करना, असङ्गत नहीं है। पंत ऐसे ही एक कवि हैं। मानवता की पुकार पर द्रवित होना कवि का धर्म है। महात्मा गांधी के व्यक्तित्व ने कवि के चित्त पर जो मुद्रा अङ्कित की, वह 'बापू के प्रति' स्पष्ट हो गई है। गांधीवाद तथा साम्यवाद दोनों की परिणति प्रायः एक ही लक्ष्य-विन्दु पर होती है, भेद है केवल प्रक्रिया और दृष्टिकोण का। पंत ने अपनी सहजभावुकता के अनुसार मानवता के परित्राण की कामना की है। मेरी समझ से पंत की आध्यात्मिक तथा आस्तिक बुद्धि साम्यवाद को विदेशी आवरण में अपने सम्मुख उपस्थित न होने देगी। युगांत तथा युगवाणी की रचना के पहले से ही पंत को मानवता में समानता का भाव आ गया था। उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट लक्षित हो जाती है। अपने गुञ्जन में उन्होंने लिखा है—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावे
दुख-सुख से औ सुख-दुख से।
अविरत दुख है उत्पीड़न
अविरत सुख भी उत्पीड़न
दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता जगता जग - जीवन

अपनी 'ज्योत्स्ना' में उन्होंने एक स्थान पर 'अन्न-वस्त्र की चिन्ता से मुक्त, स्वस्थ, साक्षर, सिद्ध कृषकों, श्रम-जीवियों एवं व्यवसायियों के नर-नारियों एवं बालक-बालिकाओं का चटकीले

रङ्गों के वस्त्र पहने, गीत, वाद्य, नृत्य, व्यंग्य, विनोद-पूर्वक वसन्तोत्सव मनाते हुए धीरे-धीरे प्रवेश' कराया है। वे सम्मिलित स्वर में गाते हैं—

गूँजे जयध्वनि से आसमान
'सब 'मानव-मानव' हैं समान'।
निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कर्म-निरत हों भेद भूल
बन्धुत्व - भाव हो विश्वमूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान
× × ×
सब श्रम, उद्यम गौरव प्रधान
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कंठों में हो एक गान—
मानव - मानव सब हैं समान

पंत अपने भावना-क्षेत्र को विकसित कर चलनेवाले प्रगतिशील कवि हैं। उनमें साम्प्रदायिक प्रगतिशीलता की भावना नहीं आ पाई है, जिसकी अभी धूम मचाई जाती है। वे जाग्रत कवि की तरह युगधर्म के अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करना चाहते हैं। मानव-जीवन में जो रूढ़िग्रस्त तथा जीर्ण-शीर्ण पक्ष हैं, उनका संहारकर वे नवयुग की मदिरा से मत्त होना चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !!

निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग नीड़ शब्द औ' श्वासहीन,
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

× × ×

मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर-मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली !

पंत सुख-दुःख से निरपेक्ष रहकर समान भाव से उनके महत्त्व को जीवन में स्वीकार करते हैं, किन्तु समय-समय पर उनकी रचनाओं में दुःख तथा सुख की प्रधानता स्पष्ट रूप से अंकित होती गई है—

विना दुख के सब सुख निस्सार,
विना आँसू के जीवन भार
दीन, दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार।

और

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान।

जीवन में केवल दुःख को महत्त्व ही नहीं देते, प्रत्युत् इस सारी सृष्टि को ही अशान्ति की जड़ समझते हैं—

पंत के समान शव्द-विन्यास में सुरुचि का निर्माण करनेवाला कोई दूसरा कवि नहीं। उन्हें शव्दों की प्रकृति तथा उनकी अर्थ-शक्ति को पहचानने का विवेक है, किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने शव्दों से वलात् अर्थ-व्यक्ति का भी काम लिया है। अँगरेजी लाक्षणिक वैचित्र्य तथा चित्र-विन्यास को हिन्दी-काव्य में प्रवेश कराने का काम जितना पंत ने किया, उतना किसी ने नहीं। सरल तथा सरस पद-योजना के रूप में उन्होंने अपनी भावना को अभिव्यंजित किया है। सौंदर्य-प्रेमी होनें के नाते उन्होंने काव्य-भापा को मनोरम वनाने में एक कृतविद्य साहित्य-शिल्पी का काम किया है। अभिव्यंजनावाद की विभिन्न प्रवृत्तियों के दिक्दर्शक वैचित्र्य-विन्यास, अलंकार आदि का निर्वाह पंत की वड़ी विशेपता है। उनकी काव्य-वस्तु में रहस्य-भावना के जो संकेत मिलते हैं, वे पहाड़ी पगडंडियों की तरह सर्वत्र दुर्वोध तथा दुर्गम नहीं हैं। पंत ने प्रकृति के उस परम तत्त्व में जो रहस्य देखा, उससे अधिक जीवन में उसका विधान नहीं किया। उनकी रचनाएँ कट्टर रहस्य-वाद की रचनाएँ नहीं हैं, जो अपनी रहस्यता के आग्रह के वशीभूत होकर इतनी दुर्गम हो जाती हैं कि 'सांत' जगत् से वाहर होकर 'अनन्त' में ही उनकी अर्थ-व्यक्ति हो सकती है। पंत का कवि प्रवंचना के पथ पर चलकर अपनी अनुभूतियों के साथ खिलवाड़ नहीं करता। उनके भाव तथा विचार जटिल नहीं, प्रत्युत सरस तथा सरल हैं। जीवन और जगत् को वे आदर्शवादी दृष्टि से देखनेवाले कवि हैं।

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्प-विमर्पों का ;

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर' के हृदय में अतीत का बड़ा प्रबल आग्रह है। जिस दिन उनके हृदय में हिमालय फूटा, उसी दिन से उनकी प्रतिभा ने एक नई दिशा की ओर गति की। अतीत गौरव की स्मृति तथा खँडहरों के प्रति दिनकर ने जिस भावुकता का परिचय दिया, वह अप्रतिम है। भारत के उन अवशिष्ट स्वरूपों के साथ भारतीय जीवन की जो भाव-धारा प्रवाहित होती रही है, उसमें कवि ने अपनी भाव-प्रवर्तिनी शक्ति से तरंगें उत्पन्न की हैं, लोक-हृदय की अंतर्भूमि को अपनी मार्मिक वाणी से अनुकंपित किया है। प्रागैतिहासिक या ऐतिहासिक काल से ही जो हमारे सुख-दुख के सहचर रहे हैं, उनको हृदय-ग्राह्य रसात्मक रूप देने का यह अच्छा प्रयास किया गया है। हिमालय के प्रति कवि के हृदय में जिन-जिन भावनाओं का उदय हुआ है, वे स्पष्ट हैं—

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट!
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!
युग-युग अजेय, निर्बंध, मुक्त,
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान!

कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम ज्वाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल ?

× × ×

कितनी मणियां लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।
कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ;
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहां
कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ !

× × ×

तू पूछ अवध से राम कहां ?
वृंदा ! बोलो घनश्याम कहां ?
ओ मगध ! कहां मेरे अशोक ?
वह चंद्रगुप्त बलधाम कहां ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहां इसने खोईं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी !

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल - उपदेश कहाँ !
तिब्यत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ !
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी - शान कहाँ !
ओरी उदास गण्डकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ !

× × ×

हिमालय दिनकर की काव्य-रचना का मेरुदण्ड है। उनके चित्त पर हिमालय ने जिस संस्कार को विकसित किया, वह उसकी नस-नस में फैलकर ही रहा। उनकी अधिकांश राष्ट्रीय रचनाओं में हिमालय, गङ्गा, गण्डकी, सतलज, नालन्दा, वैशाली, कपिलवस्तु, दिल्ली आदि की स्मृति न भूली जा सकी। भारत के इन मार्मिक स्वरूपों की ओर इस प्रकार दृष्टि ले जाने का काम पहले-पहल दिनकर ने ही नहीं किया, आज से प्रायः ७० वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी राष्ट्रीय नवजागरण-काल में, अपनी रचनाओं में काशी, प्रयाग, अयोध्या, पञ्चनद, चित्तौड़ आदि का मार्मिक सम्बोधन किया था[1]। पर, दिनकर की रचनाओं में जो

---

१. दिनकर के हिमालय-जन्म के प्रायः ६० वर्ष पहले भारतेन्दु का भारत-भाग्य भारत की दुर्दशा की घोर निद्रा से जागते-जागते थककर उदास हो कहता है—

भारत के भुजबल जग रच्छित।
भारत विद्यालहि जग सिच्छित॥

उमङ्ग और उत्साह हैं, वे भारतेन्दु की रचना में उद्भासित नहीं
होते। ऐतिहासिक या राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति में अभी
जैसी निर्बंधता है, वैसी उस समय नहीं थी। भारतेन्दु-काल से
चलती हुई हिन्दी-कविता की इस परम्परा को दिनकर ने नया
जीवन दिया। अपनी भावना और कल्पना का आश्रय देकर
भारतीय अतीत को कवि ने सजीव कर दिया। दिनकर की
कवि-दृष्टि केवल भारत की भौगोलिक सीमा तक ही रुकी न रही;
मेघरन्ध्र में रागिनी बजाते समय वह जर्मनी, जापान, शंघाई आदि
सुदूर स्थानों तक भी पहुँचती है।

दिनकर के हृदय में भावना-सम्पत्ति का जो सञ्चय है, वह
यथेष्ट है। भावना के एक केन्द्र-बिन्दु पर ठहरकर उनके ग्राम्य

भारत तेज जगत विस्तारा।
भारत भय कम्पत संसारा॥

× × ×

ते कलंक सब भारत केरे।
ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे॥
काशी प्राग अयोध्या नगरी।
दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी॥
चण्डालहु जेहि निरखि घिनाई।
रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई॥
हाय पञ्चनद हा पानीपत॥
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहुँ खरो भारतहिं मंझारी॥

× × ×

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारत दुर्दशा, पृ० ३२-३४।

जीवन के अनुभव तथा ऐतिहासिक स्मृति ने कल्पना के वल पर वाणी का अच्छा वैभव दिखलाया है। स्मृति ज्ञातक्षेत्र के वाहर नहीं जा सकती, किन्तु जीवन का अनुभव अपनी मर्यादा के अनुसार जीवन के सभी ज्ञात तथा अज्ञात क्षेत्रों में प्रसारित हो सकता है। कवि की कल्पना का प्रसंग जव उद्वेलित होता है, तव जल्द वह रुकता भी नहीं। यही कारण है कि दिनकर की अधिकांश कविताएँ, कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक, लम्वी हो गई हैं और जो इस प्रकार लम्वी हुई हैं, उनमें प्रायः एक ही प्रकृति का काव्य-द्रव्य है। ऐसी कविताओं में भाव-सम्पर्कत्व का गुण स्वाभाविक रूप से आ गया है, पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक उल्लेखों के गूढ़ प्रसङ्ग-गर्भत्व के कारण साधारण पाठकों की रस-ग्राहिणी कल्पना विस्तृत क्षेत्र में फैल नहीं पाती।

दिनकर को जीवन के किसी गूढ़ तथा अन्य मार्मिक पक्ष को देखने की प्रवृत्ति नहीं है। 'वालिका से वधू' के वर्णन में कवि की वहुत आत्मीयता झलकती है, किन्तु वधू के हृदय की भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व की व्यञ्जना का अच्छा प्रसङ्ग पाकर भी कवि ने उस पर ध्यान नहीं दिया। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति हृदय का जो सम्वन्ध संस्कृत कवियों ने स्थापित किया था, उसकी परम्परा हिन्दी काव्य में न चल सकी। दिनकर को भी प्रकृति के नित्य नवीन रूप के प्रति अनुराग नहीं है। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार में केवल अतीत गौरव की याद दिलाना, उसके प्रति क्षोभ, उपालम्भ तथा भर्त्सना प्रकट करना, अपनी भावना को संकुचित करना है। निरपेक्ष प्रकृति-दर्शन की प्रवृत्ति दिनकर में वहुत कम है। प्राकृतिक दृश्य-वर्णन के उपलक्ष्य से अपनी भावना

को दूसरे क्षेत्र में अभिव्यक्त करने की जो एक काव्य-परिपाटी रही है, वही दिनकर का लक्ष्य है। प्रकृति के नाम पर दिनकर की लेखनी उठती है, पर उसमें उनका हृदय रसता नहीं, अतीत दर्शन की लालसा से क्रम-भङ्ग हो जाता है। 'वसन्त के नाम पर,' 'वन फूलों की ओर' आदि रचनाओं में कवि की कल्पना सचेष्ट तथा एकनिष्ठ नहीं रह सकी है। कवि के हृदय में वसन्त की उमङ्ग जगी और उनकी—

कलम उठी कविता लिखने को
अन्तस्तल में ज्वार उठा रे!
सहसा नाम पकड़ कायर का
पश्चिम पवन पुकार उठा रे!
देखा शून्य कुँवर का गढ़ है,
झाँसी की वह शान नहीं है;
दुर्गादास, प्रताप बली का
प्यारा राजस्थान नहीं है;—

और इसी प्रकार कवि की स्मृति-विधायिनी कल्पना अग्रसर होती गई। कुछ क्षण के बाद फिर जब वसन्त की याद आई, तब इसी कविता के प्रसङ्ग में वे कहने लगे—

हाँ, वसन्त की सरस घड़ी है
जी करता मैं भी कुछ गाऊँ
कवि हूँ आज प्रकृति - पूजन में
निज कविता के दीप जलाऊँ।
क्या गाऊँ? सतलज रोती है
हाय! खिलीं बेलियाँ किनारे

भूल गए ऋतुपति; बहते हैं
यहाँ रुधिर के दिव्य पनारे।
बहनें चीख रहीं रावी-तट
बिलख रहे बच्चे मतवारे;
फूल-फूल से पूछ रहे हैं—
'कब लौटेंगे पिता हमारे ?'

इस प्रकार दिनकर प्रकृति के साथ अपनी तन्मयता न दिखा सके। लेकिन देश के अतीत गौरव, उसके खण्डहर, दीन-दुखी भूखे किसान-मजदूर, हरे-भरे धान-खेत, खलिहान, हरी-भरी दूब, गाँव के चौपाल पर उनकी कवि-दृष्टि भिन्न-भिन्न रचनाओं के रूप में पहुँची है। दिनकर प्रगतिशीलवादी नहीं, किन्तु स्वाभाविक रूप से एक प्रगतिशील कवि हैं। भारत की राष्ट्रात्मा के मर्म को स्पर्श करने की जैसी क्षमता दिनकर में दिखाई पड़ रही है, वैसी किसी दूसरे कवि में नहीं मालूम होती। भारतीय लोक-जीवन के सम्मुख राष्ट्रीयता का रसात्मक स्वरूप उपस्थित करने की आशा दिनकर से की जा सकती है। उनका भविष्य इसी सम्भावना पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। अपने देश के दलित पक्ष को ऊपर उठाने के लिये वाणी में जिस संयम तथा दर्प की आवश्यकता है, वह दिनकर में पर्याप्त मालूम पड़ती है—

उठ वीरों की भावरंगिणी दलितों के दल की चिनगारी,
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला जाग-जाग री क्रान्ति-कुमारी
लाखों क्रौंच कराह रहे हैं जाग आदिकवि की कल्याणी
फूट-फूट तू कवि-कण्ठोंसे बन व्यापक निज युग की वाणी

आदिकवि की कल्याणी—कविता देवी—को जगाने के लिए

लाखों क्रौंचों की वेदना का अर्थ-गर्भित उल्लेख करना कवि की सहृदयता है, किन्तु इतना ही नहीं, कवि की वाणी में क्षमता भी है और इस क्षमता को कवि ने अपनी वाणी में बड़े दर्प के साथ व्यक्त किया है—

सुनूँ मैं सिन्धु क्या गर्जन तुम्हारा ?
स्वयं युगधर्म की हुंकार हूं मैं।

महादेवी वर्मा

संसार में कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जिन्हें हम बहुत प्यार करते हैं, किन्तु अपने प्यार की प्रतिष्ठा के लिए कोई तर्क नहीं दे सकते। पुष्प का सौन्दर्य हमें रमणीय मालूम पड़ता है, चाँदनी हमें प्रिय मालूम होती है, परन्तु उनकी प्रियता का कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम हुआ रहता है, केवल इतना ही कि उनमें आकर्षण है। शुद्ध सौन्दर्य का तत्त्व कुछ ऐसे ही उपादानों से बना होता है, जो हमारे हृदय को प्रलुब्ध तो बना देता है, पर तर्क को प्रबुद्ध नहीं करता। हृदय के साथ उनका कुछ-न-कुछ सांस्कारिक सम्बन्ध रहता है, जो अज्ञात रूप से अपनी स्थिति को प्रकट करने की चेष्टा करता है। जड़ और चेतन की सृष्टि में इसी कारण वह द्वैध नहीं रखा गया, जो साधारणतः ऐसी स्थिति में रखा जा सकता था। इसी कारण जड़ और चेतन, दोनों, के युगपत् आविर्भाव को ही सृष्टि कहते हैं। वस्तु और भाव, स्थिति तथा प्रक्रिया के भेद को मानते हुए, एक ही हैं। महादेवी वर्मा को वेदना प्रिय है, लेकिन उसकी प्रियता के लिए उनके पास ऐसा कोई कारण नहीं, जो स्पष्ट हो। व्यक्ति का जीवन ऐसे ही रहस्यमय तत्त्वों से निर्मित होता है, जिन्हें हम समूल अभिव्यक्त नहीं कर सकते। महादेवी ने अपनी वेदना की प्रियता के सम्बन्ध में जिन कारणों का उल्लेख किया है, वे पर्याप्त नहीं हैं। उन्हें जीवन में बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिलने की प्रतिक्रिया से वेदना प्रिय नहीं मालूम हो सकती। प्रतिक्रिया हृदय की इच्छित वृत्ति नहीं

होती और काव्य में स्वाभाविक वृत्तियों के बिना रमणीय अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। यदि महादेवी की सारी काव्य-रचनाएँ, जैसा कि इन्होंने लिखा है, अतिशय प्यार, दुलार की प्रतिक्रिया के कारण ही वेदना-बहुल हैं, तो उनका मर्म किसी कवियित्री का मर्म नहीं हो सकता। किन्तु, यह बात नहीं है। महादेवी एक सफल कवियित्री हैं और उनके पास कवि-सुलभ एक संवेदना-पूर्ण हृदय भी है।

जीवन में सुख के उपभोग के समय हृदय स्वार्थी रहता है और दुःख के सहन-काल में प्रायः वह उदार हो जाता है। उदारता कवि-प्रकृति है। अपनी जिन उदात्त वृत्तियों के कारण कवि जनता की सहानुभूति को आकर्षित करता है, उनके प्रति उसका ममत्व स्वाभाविक है। जगत और जीवन की करुणा प्राप्त करने के लिए अपना वैभव भी लुटाना पड़ता है। जिस करुणापूर्ण दुःखवाद के ऊपर बौद्ध दर्शन की प्रतिष्टा हुई, उसके संकेत यत्र-तत्र महादेवी की रचनाओं में भी मिलते हैं, किन्तु इतना तो स्पष्ट मानना पड़ेगा कि जिस अगाध करुणा तथा निराशा से प्रेरित अनात्मवादी बौद्ध दर्शन पञ्च-स्कन्ध को ही आत्म-संज्ञक मानने को वाध्य हुआ, वह उनकी रचनाओं में कहीं भी लक्षित नहीं होता। जीवन-विज्ञान का विश्लेपण ही दर्शन-शास्त्र का विषय है, लेकिन विश्लेपण की भिन्नता जीवन की अखण्डता पर कुछ आघात नहीं कर सकती। निर्वाण या मोक्ष जीवन की लौकिक परिधि से मुक्ति है, पर इस परिधि के वाहर जाकर भी जीवन एक दूसरी सीमा में आवद्ध हो जाता है। उस सीमा की परिधि इतनी विशाल तथा विस्तृत है कि मानव-

बुद्धि उसे निस्सीम मान लेती है। व्यक्ति-बोध के खण्ड की यही अखण्डता है। यदि अखण्ड तथा अविच्छिन्न जीवन में खण्ड तथा विच्छिन्न जीवन को महत्त्व न दिया जायगा, तो सामान्य मानव-बुद्धि को उसका बोध नहीं हो सकेगा। ज्ञान का क्षेत्र सदा परिमित रहता आया है और ऐसे ही क्षेत्र में भाव भी सञ्चरित हो सकता है। हमारी बुद्धि की सीमा के बाहर भाव अपनी व्यापकता नहीं बढ़ा सकता। जिस क्षेत्र पर एक बार ज्ञान का आधिपत्य हो चुका रहता है, उसी पर भाव को संक्रमण का अवकाश मिलता है। जिस क्षेत्र पर आधिपत्य करने के लिए ज्ञान को अज्ञान से द्वंद्व करना पड़ता है, वह अज्ञेय बनकर काव्य-प्रवृत्ति का बाधक हो जाता है।

रहस्यवाद के तथ्य को लेकर काव्य-रचना करनेवाली महादेवी वर्मा एक मुख्य कवियित्री हैं। काव्य के स्वरूप को ग्रहण करते समय रहस्यवाद को अज्ञेय की सीमा से नीचे उतरकर एक स्पष्ट तथा ज्ञात आलम्बन के रूप में उपस्थित होना पड़ेगा। यदि ऐसा न हुआ, तो रहस्यवादी रचनाएँ काव्य के अन्तर्गत न रहकर अज्ञेय दर्शन के अन्तर्गत हो जायँगी। ऐसा देखा जाता है कि रहस्यवादी कवियों ने अपने आलम्बन की एकरूपता का निर्वाह प्रायः नहीं किया है। कभी आलम्बन स्पष्ट है, तो कभी अस्पष्ट। कहीं आलम्बन लौकिक है, तो कहीं लोकोत्तर। आश्रय के सम्बन्ध में भी लिङ्ग का विपर्यय बना रहता है। इस प्रकार की भिन्नता रहस्यवादी कविताओं के मर्म को रसग्राह्य बनने में बाधा देती है। महादेवी वर्मा की रहस्यवादी कविताओं के रहस्य को समझने के लिए यदि उनके कथन को ही लिया जाय, तो उनके

'गीतों ने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया-मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेहसम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।' कवियित्री ने अपनी काव्य-वस्तु के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह एक तथ्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि शायद इसी कारण उनकी रचनाओं में आलम्बन के एकत्व का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाया। निर्गुण ब्रह्म को महत्त्व देकर भी जनता की चित्तवृत्ति को भक्ति-रस से अनुप्राणित करने के लिए कबीर को सगुण 'राम की बहुरिया' बनना पड़ा। अद्वैत काव्य का विषय नहीं हो सकता। काव्य-स्वरूप के अन्तर्गत आने के लिए अद्वैत को द्वैत के रूप में उपस्थित होना आवश्यक है। यदि द्वैत के रूप में उसका वर्णन न भी किया जाय, तो विशुद्धाद्वैत या शुद्धाद्वैत के बिना उसकी काव्य-परिणति नहीं हो सकती। आश्रय और आलम्बन, काव्य के उभय पक्ष के लिए, अद्वैतवाद में स्थान नहीं और काव्य-रचना केवल एक के ही उपलक्ष्य पर नहीं हो सकती। अनुभूति तथा कल्पना को अपनी स्थिति-मात्र के लिए भी आश्रय से पृथक् आलम्बन के रूप में किसी वस्तु को ग्रहण करना पड़ेगा। काव्य-जगत में ब्रह्म को भी उसी वस्तु-रूप में उपस्थित होना पड़ेगा, अन्यथा 'अहं ब्रह्मास्मि' के कारण आश्रय और आलम्बन का एकत्व प्रतिपादित हो जाने पर काव्य-रचना को अपनी प्रतिष्ठा का आधार नहीं मिल सकेगा। तुलसी और सूर के विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत

को रहस्यवाद में नियोजित करने की सामर्थता प्राप्त नहीं होने पर निर्गुणवाद की सूफी पद्धति ही रहस्यवाद के अनुकूल पड़ सकी। कबीर के शुद्ध निर्गुणवाद में रहस्यवाद की स्थिति सम्भव नहीं। जहाँ-कहीं कबीर ने रहस्यवाद की झाँकी ली है, वहाँ उन्हें निर्गुण को सगुण मान लेना पड़ा है। लौकिक जीवन को लौकिक अर्थ-भूमि का आधार देने के लिए लौकिक वासनात्मक प्रणयोद्गार का माध्यम आवश्यक है। लोकोत्तर उपलक्ष्य के सहारे जीवन की सारी भावनाएँ व्यक्त नहीं की जा सकतीं। जो विषय केवल बुद्धि-गम्य है, वह सदा भावगम्य नहीं हो सकता। बुद्धिगम्य विषय को भावगम्य बनने में कुछ समय लगता है।

मुख्य आलम्बन को गौण रखकर माध्यम को ही अभिव्यक्त करना रहस्यवादी कविताओं का एक लक्ष्य हो गया है। माध्यम की प्रधानता के कारण ही ऐसी रचनाओं में अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय विशेषतः लेना पड़ा है। जीवन की विरह-वेदना, अतृप्ति, निराशा, अवसाद को चित्र भाषा-शैली में बड़ी विलक्षणता तथा विचित्रता के साथ वर्णित किया गया है। रूपक की विभिन्नता के कारण महादेवी वर्मा की रचनाएँ सहज ही दुर्बोध हो गई हैं। उनका प्रेम-व्यापार कहीं तो बिलकुल लौकिक पद्धति पर चला है, और कहीं लोकोत्तर। लौकिक प्रेम की तीव्रता जहाँ ज्यादा उधार मिली है, वहाँ आलम्बन स्पष्ट है और विषय भी रसग्राह्य, किन्तु लोकोत्तर आलम्बन पाठक या श्रोता की भाव-भूमि से इतनी दूर पड़ जाता है कि वहाँ तक कल्पना किसी तरह कभी-कभी पहुँच भी जाती है, हृदय को पहुँचने में बड़ी कठिनता होती है।

मुक्तक गीत में अन्विति-रक्षा के लिए पूर्वापर-सम्बन्ध का

निर्वाह लोक-जीवन के अधिक निकट रहनेवाले प्रतीक या भावनोद्गार से हो सकता है। प्रकृति के अनन्त रूप-व्यापार के उपलक्ष्य पर प्रेम की गूढ़ तथा अगूढ़ व्यञ्जना हो सकती है, पर गूढ़ प्रेम-व्यञ्जना को समझने के लिए अपेक्षित मनोरचना प्रायः नहीं होती। धुँधली साम्य-भावना के आधार पर अगूढ़ को गूढ़ बना देने की प्रणाली काव्योपयुक्त नहीं मानी जा सकती। किन्तु; इन सब दोषों का भार महादेवी वर्मा के ऊपर ही लादना उनके प्रति अन्याय होगा। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी भाव-धारा को एक स्वाभाविक तथा निश्चित क्रम से प्रवाहित होने दिया है, उसमें ज्वार-भाटा के कारण तरङ्गों का आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन तो होता रहा है, पर प्रवाह को अपनी सीमा में रखनेवाले दोनों तट प्रायः सुरक्षित रहे हैं। कवियित्री के शब्दों में ही "समय के अनुसार रचनाओं में जो परिवर्त्तन आते गए हैं, उनके लिए भी मुझे कभी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। याद नहीं आता, जब मैंने किसी विषय-विशेष या वाद-विशेष पर कुछ सोच कर लिखा हो।" उनके इस कथन से चाहे हम पूरे सहमत न भी हों, परन्तु उनकी काव्य-दृष्टि में विषय की एकरूपता का यथासम्भव निर्वाह तथा क्रमिक विकास मानना पड़ेगा। भिन्न-भिन्न ससय में, प्रत्येक सम्वेदनशील कवि की तरह, उनकी अनुभूति, चिन्तन तथा कल्पना के सामञ्जस्य में कुछ व्यतिक्रम रहा है। अपने चारों—नीहार, रश्मि, नीरजा तथा सान्ध्यगीत—कविता-संग्रहों के रचना-काल की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह उनकी रचना-प्रकृति के साथ मेल रखनेवाला तथ्य है। वे लिखती हैं—"नीहार के रचना-काल में मेरी अनु-

भूतियों में वैसी ही कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती, जैसी बालक के मन में दूर दिखाई देनेवाली अप्राप्य सुनहली उषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से उत्पन्न हो जाती है। रश्मि को उस समय आकार मिला, जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिन्तन प्रिय था, परन्तु नीरजा और सान्ध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे, जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा।"

महादेवी वर्मा ने वेदना को अपने काव्य का मूलद्रव्य रखा है। वेदना दुःखमूलक अवश्य है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में वह दुःखजनक नहीं होती। काव्य में जीवन की वही भावना अभिव्यक्त होती है, जो कवि को प्रिय रहती है। अप्रियता को काव्य में स्थान नहीं। वेदना भी प्रिय लगने पर ही काव्य का स्वरूप धारण करती है। कवियित्री ने दुःखवाद को अपना काव्य-विषय बनाकर सुखवाद से वैर नहीं ठाना, प्रत्युत सुखवाद का उल्लास प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने वेदना से मैत्री स्थापित की है। यदि वेदना की अभिव्यक्ति में उन्हें उल्लास न मिले, तो उनसे काव्य-रचना भी नहीं हो सकती। काव्य-रचना की मूलप्रेरणा सुख से ही होती है, पर अपनी रुचि-भिन्नता के कारण उसका विषय चाहे जैसा कुछ हो।

जन्म हो जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूं उच्छ्वास
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस

छोड़ क्यों देते बारम्बार
मुझे तम से करने अभिसार।

बुझते ही प्यास हमारी
पल में विरक्ति जाती बन !

पूर्णता यही भरने की
ढुल कर देना सूने घन;
सुख की चिर पूर्त्ति यही है
उस मधु से फिर जाये मन

चिर ध्येय यही जलने का
ठण्ढी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना !

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरतीं आँसू के सागर।

महादेवी वर्मा ने अपनी सारी मनोभावनाओं को एक अप्राप्तव्य आराध्य के उपलक्ष्य से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। अतृप्त इच्छाएँ ही प्रलुब्ध होती हैं। इतना होने पर भी जगत और जीवन के सम्बन्ध को हम विध्वंस नहीं कर सकते। उसी के अन्तर्गत रहकर हम जीवन में उत्तीर्ण हो सकते हैं और वस्तुतः जीवन की यही सच्ची साधना है। क्षुद्र से विराट् तथा नश्वर से शाश्वत होने के लिए अंश में ही पूर्णता तथा सीमा में ही असीमता उपलब्ध करना पड़ेगा। अपनी सारी चेतना के साथ देखने से वद्ध भी अवद्ध मालूम पड़ता है। जीवन के विषाद तथा अवसाद चेतना की अन्तर्ज्योति से स्वतः दीप्तिमय होकर

आनन्द तथा उल्लास में परिवर्त्तित हो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'प्रकृति का प्रतिशोध' नामक अपने नाट्य काव्य में ऐसे ही एक तथ्य का बड़ा रमणीय रूपक-विधान किया है। एक संन्यासी संसार के सारे स्नेह-बन्धन को तोड़, अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्तकर विशुद्ध भाव से एकान्त में अनन्त की उपलब्धि करना चाहता था। शायद वह यह सोचता था कि अनन्त इस जगत और जीवन से बाहर है। एक दिन अचानक एक बालिका ने उसे अपने स्नेह-पाश में आबद्धकर अनन्त के ध्यान से जीवन और जगत में लौटा लिया। जगत में उस संन्यासी ने देखा कि क्षुद्र से ही बृहत् है, सीमा से ही असीम है, और प्रेम से ही मुक्ति है। जैसे ही प्रेम का आलोक दिखाई पड़ा, वैसे ही आँखें बन्द करने पर उसने देखा कि सीमा में भी सीमा नहीं है।

महादेवी वर्मा ने, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, अप्राप्तव्य को ही अपने प्रयत्न का लक्ष्य रखा है। उन्होंने अपनी सारी उत्कण्ठा, विह्वलता तथा उद्वेग को लेकर अपने जीवन के अतिथि का अनुसन्धान करना चाहा है।

इस अचल क्षितिज रेखा के
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।

जन्म-मरण के समय सुख-दुख की जो स्थिति रहती आई है, वह जीवन में उल्लास-विषाद की प्रेरणा देती रही है। बार-बार मरने के विषाद की अनुभूति को प्राप्त करने के लिये बार-बार जन्म-ग्रहण की अनिवार्यता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उन

की इस आकांक्षा के सामने उनका बौद्ध दर्शन पराजित हो जाता है। वे कहती हैं—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पर
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में।
सजल श्यामल मन्थर मूक-सा
तरल अश्रुविनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !

जीवन की नश्वरता को समझकर वे कहती हैं—

विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द ;
यहाँ किसका अनन्त यौवन ?
अरे अस्थिर छोटे जीवन !

मरने का अधिकार, जो प्रेम की सब से सात्विक मांग है, कवियित्री रखना चाहती है—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

कवियित्री ने खण्ड में अखण्ड तथा सीमित में असीम को भी समझने की चेष्टा की है। अनन्त तबतक प्राप्तव्य माना नहीं जा

सकता, जबतक वह सान्त न हो। महादेवी वर्मा में एक बहुत ही प्राञ्जल कवि-हृदय है। उनकी काव्य-प्रवृत्तियों की विविधता में भी एक ऐसी एकरूपता है, जो हिन्दी के अधिकांश कवियों को प्राप्त नहीं। वे जानती हैं कि—

विश्व में वह कौन सीमाहीन है,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?

हरिवंश राय 'बच्चन'

हरिवंश राय 'बच्चन' जीवन के राग-विराग से सन्तप्त मत्त तथा विद्रोही कवि हैं। ईरानी मदिरा से अभिसिञ्चित उमर खैयाम की रुबाइयों के प्रशंसक जब यूरोप तक में मिले, तब भारत में उनके हिमायती क्यों न मिलते! ईरान के साथ भारत का कुछ सांस्कृतिक सम्बन्ध भी रहा है। यूरोप की बोतलों में जो ईरानी मदिरा भरी गई, उन पर लेबुल तो ईरान का ही लगा, पर बच्चन ने अपनी मधुशाला में मदिरा भी अपने ढङ्ग की बनाई और उस पर लेबुल भी बिल्कुल स्वदेशी रखा। भारतीय जीवन का जितना रमणीय अध्यात्यवाद बच्चन की कविताओं में झलकता है, उतना उन तथाकथित रहस्यवादी रचनाओं में नहीं। 'हालावाद' के सम्बन्ध में, ऐसा मालूम पड़ता है, बच्चन का आरम्भिक प्रयत्न प्रायः कौतुकपूर्ण ही था, पर अब उसमें धीरे-धीरे जीवन की गम्भीरता और सचाई उतर गई है।

बच्चन की रचनाएँ उनके जीवन के दृष्टिकोण का स्पष्ट पता बता देती हैं। जीवन का आरम्भ जिन सुनहले स्वप्नों के साथ होता है, उनकी निस्सारता उनके भङ्ग होने पर ही प्रकट होती है। अपने जीवन में केवल सुख, स्नेह, सम्मान, प्रशंसा को देख कर भूलनेवाले कवि की मादकता जब उतर जाती है, तब वे जीवन को वस्तु-स्थिति के रूप में देखने की क्षमता प्राप्त करते हैं। जीवन में न तो केवल सुख-ही-सुख है और न केवल दुःख ही दुःख। सुख-दुःख के द्वंद्व का ही नाम जीवन है और न मालूम इस द्वंद्व में कितनी लालसाएँ, कितनी महत्त्वाकांक्षाएँ पराजित हो जाती

हैं। "उसने न माना कि जीवन अपूर्ण है। वह विशुद्ध हृदय से यह विश्वास लेकर जीवन-पथ पर बढ़ा कि जीवन पूर्ण है। इस विश्वास के साथ वह कितनी दूर जा सकता था। कितनी पीड़ाओं को सहकर उसने सीखा कि कोमल कुसुमों की डाल काँटों से भरी है और शीतल चन्दन के वृक्ष में विषधर सर्प लिपटे हैं। कितने आँसू बहाकर उसने सीखा कि प्रणय के अन्दर संघर्ष छिपा तथा त्याग के पीछे स्वार्थ बैठा है। कितनी आहें भरकर उसने सीखा कि सत्य, शिव और सुन्दर इस विश्व में एक दूसरे से कितनी दूर हैं और वह कितना आश्चर्य-चकित हुआ, यह देखकर कि इस संसार में पाप और पुण्य का ही विरोध नहीं। इतना ही होता तो पुण्य कब का पाप के ऊपर विजयी हो गया होता। यहाँ पुण्य का पुण्य से विरोध है। न्याय, न्याय का विद्रोह कर रहा है और सत्य और सत्य में युद्ध हो रहा है, संग्राम हो रहा है—भीषण, अति भीषण !"

बच्चन का धर्म-सम्बन्धी विश्वास भी अपनी विशेषता रखता है। प्रेम ही उनका धर्म और भगवान है—

धर्म हमारा पूछो प्राण ?—
ईश्वर को मैं नहीं जानता,
उसकी सत्ता नहीं मानता,
जिसे न देखा जाना कैसे उसको लेता मान ?
जगती में मैं अबतक प्राण !
केवल एक प्रेम पहचानूँ,
उसे हृदय का स्वामी मानूँ,
सब कहते भगवान प्रेम है—प्रेम हमें भगवान !

उनकी मधुशाला में हिन्दू-मुस्लिम, पण्डित-मौलवी, छूत-अछूत, राजा-रङ्क, पूंजीवादी-साम्यवादी—सब के लिये प्रवेश-द्वार खुला हुआ है। बच्चन के लिये न ईश्वर है, न खुदा; न वेद है, न पुराण; जो कुछ है, वह प्रेम है। प्रेम को परम तत्त्व समझने-वाला तथा लहरों का निमन्त्रण पाकर आकर्षित होनेवाला कवि नास्तिक नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष जीवन में—जीवन के इस पार में—जो रस है, स्वाद है उसको ही महत्त्व देनेवाला कवि परलोक—जीवन के उस पार—की कल्पना कर आस्तिक बुद्धि को परेशान करना नहीं चाहता—

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

यह चाँद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का
लहरा - लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का,

कल मुरझानेवाली कलियाँ
हँसकर कहती हैं मग्न रहो
बुलबुल तरु की फुनगी पर से
सन्देश सुनाती यौवन का,

तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जाने क्या होगा!

इस पार, प्रिये, मधु है तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा।

कवि के इस अनुराग का भावी के अभिसार के साथ सम्बन्ध नहीं लगाया जा सकता। जीवन के किसी काल में जब प्रत्यक्ष सुख अपनी सारी सम्भावनाओं के साथ उपस्थित रहता है, तब अप्रत्यक्ष तथा सुदूर सुख प्रलोभन नहीं दे सकता। जब प्रत्यक्ष सुख लुप्त हो जाता है, तब कल्पना किसी सुदूर सुख का भी प्रलोभन पाकर प्रेरित होती है। मानव-प्रकृति की ये सर्वसामान्य विशेषताएँ हैं। जो कवि कभी इस पार ही रहना चाहता था, वह लहरों का निमन्त्रण पाकर अम्बुधि को तैरकर उस पार की कुछ विभा ले आना चाहता है—

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण

× × ×

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ,
चाहता हूँ तैर जाना
सामने अम्बुधि पड़ा जो,
कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ,
स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उनसे दूर ही था,
किन्तु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियंत्रण।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

और वे कहते हैं—

दूरस्थित स्वर्गों की छाया
से विश्व गया है बहलाया।
हम क्यों उन पर विश्वास करें
जब देख नहीं कोई आया।
अब तो इस पृथ्वीतल पर ही
सुख-स्वर्ग बसाने हम आए
मधु-प्यास बुझाने हम आए।

अपने प्याले के सम्बन्ध में उन्होंने जो परिचय दिया है, उससे उनकी कितनी मस्ती झलकती है—

जो रस लेकर आया भूपर,
जीवन आतप ले गया छीन,
खो गया पूर्व गुण, रङ्ग, रूप
हो जग की ज्वाला के अधीन,

मैं चिल्लाया, क्यों ले मेरी
मृदुता करती मुझको कठोर ?
लपटें बोलीं—'चुप बजा-ठोंक
लेगी तुझको जगती प्रवीण।'
यह लो, मीना-बाजार लगा,
होता है मेरा क्रय-विक्रय।

मिट्टी का तन, मस्ती का मन,
क्षण-भर जीवन मेरा परिचय।

जब मनुष्य अपने किसी विचार को धारणागत बना लेता है, तब स्वभावतः अपने उस विचार के प्रति उसकी आसक्ति हो जाती है। मनुष्य अपने निर्णय के प्रति सदा निर्बल ही रहता है। जब तक वह अपने निर्णय को किसी भी पक्ष में मान्य नहीं बना लेता, तब तक वह अपने विचारों को दूसरे के सम्मुख उपस्थित करने का उत्साह नहीं पाता। अपनी आसक्ति के निर्वाह के लिए वह समाज के व्यंग्य को भी सहनीय बना लेता है। जब धर्म या सम्प्रदाय ने जीवन में मदिरा का निषेध किया, तब जीवन को प्रभावित करने के लिए ही मादकता का प्रतीक बनाकर उसे काव्य में उपस्थित कर दिया गया। बच्चन ने 'हालावाद' की पुकार मचाकर कुछ लोगों के कान खड़े कर दिए। इस प्रवृत्ति के कारण उन्हें कुछ व्यंग्यबाण भी सहने पड़े, किन्तु कवि की मादकता इतनी हल्की न थी, उसमें वह अपने जीवन का आसव घोल चुका था—

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनियाँ की नजर में !

× × ×

देख भींगे होंठ मेरे
और कुछ सन्देह मत कर,
रक्त मेरे ही हृदय का
है लगा मेरे अधर में।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनियाँ की नजर में !

कवि ने अपनी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर अपनी

रचनाओं में संकेत दिए हैं। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में लोग क्या समझते हैं, उसको जानकर उन्होंने उसका उत्तर भी दिया है। उनकी मधुशाला की साकी चाहे पार्थिव हो या अपार्थिव, किसी भी रूप से उसके वासनात्मक स्वरूप का निराकरण नहीं किया जा सकता। वासना सदैव बुरी नहीं होती, वासना के अभाव में न तो जीवन में कोई प्रेरणा उत्पन्न हो सकती है और न उसका शक्ति-सम्वर्द्धन ही सम्भव है। बच्चन ने अपनी साकी के साथ वासनात्मक सम्बन्ध का प्रतिरोध करते हुए, उसके स्वरूप का जो अभौतिक विधान किया है, वह इतना विशाल है कि साधारण मानव की पहुंच के बाहर हो गया है—

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !
सृष्टि के आरम्भ में
मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल रवि के भाग्य वाले
दीप्त भाल विशाल चूमे,
प्रथम सन्ध्या के अरुण दृग
चूम कर मैंने सुलाए,
तारिका-कलि से सुसज्जित
नव निशा के बाल चूमे।
वायु के रसमय अधर
पहले सके छू होंठ मेरे,
मृत्तिका की पुतलियों से
आज क्या अभिसार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा।

× × ×

प्यास वारिधि से बुझाकर
भी रहा अतृप्त हूँ मैं,
कामिनी के कुच-कलश से
आज कैसा प्यार मेरा!
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा।

× × ×

इन्हें जग-जीवन से अनुराग
इन्हें जग-जीवन से विद्रोह
इसे क्या समझेंगे ये लोग
जिन्हें सीमा, बंधन का मोह!
करे कोई निन्दा दिन-रात
सुयश का पीटे कोई ढोल
किए कानों को अपने बन्द
रही बुलबुल डालों पर बोल

× × ×

इस जगत को क्यों अखरती
है [illegible] मेरी जवानी?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधु समझता।
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा!

फिर अपनी वासना की पार्थिवता के सम्बन्ध में कवि कहता है—

हमें लघु मानव को क्या लाज
गये मुनि-देवों के मन डोल

बच्चन ने प्रकृति के विविध रूप-व्यापार, सर-सरिता, निर्झर, सागर, नभ, घटा, तरुवर, पक्षी आदि में अपने जीवन का सम्बन्ध पाया है और सम्बन्ध जड़ के साथ नहीं, प्रत्युत् जीवन्त के साथ पाया है—

सर में जीवन है इससे ही
वह लहराता रहता प्रतिपल,
सरिता में जीवन इससे ही
वह गाती जाती है कल-कल

कहीं तो कवि ने प्रकृति के शुद्ध आलम्बनत्व का निर्वाह किया है और कहीं अपनी भावना के अनुरूप ही प्रकृति को चित्रित किया है। कवि के जीवन में मादकता की जो लहर है, वह प्रकृति के किसी भी रूप को, किसी भी व्यापार को सदैव स्वतन्त्र नहीं छोड़ सकती। उनकी मधुशाला मदिरा की नहीं, मस्ती की है। अपनी मस्ती से उन्होंने जगत को भी मस्त बनाने की ठानी है। उनकी सुराही, प्याला, हाला, मधुबाला आदि किसी निश्चित पदार्थ के प्रतीक के रूप में व्यवहृत नहीं हुए हैं। अपनी मादकता की उमङ्ग में प्रकृति के जिस रूप की ओर, जीवन के जिस पक्ष की ओर दृष्टि दौड़ गई है, उसी ओर और उसी क्षेत्र में मधुशाला के सारे उपकरणों को स्थान-स्थान पर बिठा दिया गया है। उनका सब से बड़ा दुर्भाग्य इसी बात में रहा कि उनकी रचनाओं के

आध्यात्मिक मर्म की ओर पाठक या श्रोता की दृष्टि प्रायः नहीं गई।

दुःख और सुख के साथ जीवन का संश्रव बराबर ही बना रहता है। कुछ घड़ियाँ ऐसी आती हैं, जब मनुष्य अपने जीवन की सारी रमणीयता को भूलकर विषाद से ही अभिभूत हो जाता है। जीवन के कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं, जो उल्लास और उमङ्ग को ही सूचित करते हैं। मनुष्य परिस्थितियों से घिरा रहता है। सुख और दुःख के अनुभव बहुधा परवशता के परिणाम होते हैं—

साथी, साथ न देगा दुख भी।
जिस परवशता का अनुभव
अश्रु बहाना पड़ता नीरव
उस विवशता से दुनियाँ में होना पड़ता है हँसमुख भी।
साथी, साथ न देगा दुख भी।

बच्चन का कवि जीवन के उल्लास से भी उल्लसित हुआ है और विषाद से भी विषन्न। उनकी रचनाओं में जीवन के परिस्थिति-मूलक चित्र अनेक भरे पड़े हैं। अपनी प्रिय पत्नी के देहान्त के बाद कवि की वृत्तियाँ जीवन और जगत की नश्वरता पर प्रहार करने लगीं और एकान्त संगीत तथा निशा-निमन्त्रण के रूप में उनकी सारी वेदना मुखर हो गई। अपने घनीभूत विषाद से उनके दग्ध हृदय की वाणी विकल हो उठी—

मेरे उर पर पत्थर धर दो!
जीवन की नौका का प्रिय धन
लुटा हुआ मणि-मुक्ता कंचन
तो न मिलेगा, किसी वस्तु से इन खाली जगहों को भर दो।
मेरे उर पर पत्थर धर दो!

इतना ही नहीं, वियुक्त प्रिया की स्मृति आते ही उनका जीवन त्राहि-त्राहि कर उठा है—

त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन !
जब रजनी के सूने क्षण में,
तन-मन के एकाकीपन में
कवि अपनी विह्वल वाणी से अपना व्याकुल मन बहलाता
त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन ।

यदि जीवन में केवल विषाद का ही अन्धकार घिरा रहता और प्रकाश की रेखा न दिखाई पड़ती, तो मानव-जीवन में न द्वन्द्व रहता, न कोलाहल। काल में विषाद के दंशन को सह्य बनाने की अपूर्व क्षमता होती है। जीवन को वस्तुस्थिति के रूप में समझने वाले मनुष्य के लिए सुख-दुख की घटनाएँ कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। जगत और जीवन जिस उद्देश्य से स्रष्ट हुआ है, उसकी विजय निश्चित है। बच्चन के विषाद को भी काल के सम्मुख पराजित होना पड़ा और कवि की वाणी पुकार उठी—

जय हो, हे संसार, तुम्हारी।
जहाँ झुकें हम वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटें हम वहाँ बनो तुम,
तुम जीतो उस ठौर जहाँ पर हमने बाजी हारी !
जय हो, हे संसार, तुम्हारी।

संसार की इस विजय ने कवि के जीवन में नई स्फूर्ति उत्पन्न की। काल-क्रम से उनके विषाद का घनत्व कम हो गया और जीवन में पुनः प्रेम तथा आनन्द का आविर्भाव हुआ। बच्चन ने अपने हृदय पर से पत्थर को उठाकर वहाँ फिर नई परिणीता को

प्रदान किया। इतना होने पर भी कवि ने अपने आरम्भिक जीवन की जिन उमंगों को पहले व्यक्त किया था, उनकी पुनरावृत्ति अब सम्भव नहीं मालूम पड़ती।

कवि ने 'गान्धीवाद' की 'युगवाणी' के बाद जीवन के जिन शाश्वत तत्त्वों की ओर दृष्टिपात किया है, उनकी ओर यदि उनका ध्यान केन्द्रित रहता, तो जीवन और जगत की सार्थकता को अभिव्यक्त करनेवाले एक मनीषी कवि के रूप में वे हिन्दी को प्राप्त हो सकते।

नामानुक्रमणिका

म

य

र